जीवन संध्या का स्वागत

लेखिका

मीरा भट्ट

अनुवाद

अमी - नँदिनी

प्रकाशक

हरिकृष्ण गुप्त

आर-पी- ४ पीतम पुरा

दिल्ली- ११००३४

अर्पण

प्रथम प्रयास का थाल

समर्पण

मेरे परमप्रिय पप्पा को

- अमी

· द्वितीय आवृत्ति

प्रकाशक

हरिकृष्ण गुप्त

आर पी - ४ पीतम पुरा

दिल्ली - ११००३४

प्राप्ति स्थानः

हरिकृष्ण गुप्त

आर पी - ४ पीतम पुरा

दिल्ली - ११००३४

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

डूबते सूर्यास्त की बेला में

दिन ढल रहा है और सांझ घिर आयी है । सुबह से काम में लगा सूर्यनारायण भी अपनी समस्त प्रखर किरणें समेटकर अब विराम चाहता है, निःशेष होना चाहता है । जीवन का सूरज भी जीवन की संध्या में अपनी तमाम वृत्ति - प्रवृत्तियों को समेटकर कहीं सुस्ताना चाहता है, निःशेष होना चाहता है । निःशेष होने की इस चाहत में एक बहुत बड़ी चीज़ पाने की आरजू अंतर में संजोई होती है । क्या है यह चाहत ? क्या है यह आरजू ?

हिमालय की गगनचुंबी चोटियों से नीचे उतरनेवाली पुण्यसलिला गंगा के पास इस प्रश्न का जवाब है । नीचे बहने के प्रथम क्षण से ही उसके भीतर एक अदम्य उत्कंठा जागी है - सागर मिलन की । पहाड़ों से कूदती हुई, जंगलों से गुजरती हुई, मैदानों में बहती हुई, अलकनंदा, भागीरथी, कालिंदी, यमुना सबसे मिलकर उन्हें अपने में आत्मसात् करती हुई गंगा बहती जा रही है- बस एक ही ध्येय, एक ही तमन्ना-सागर मिलन की ।

हम मानवों के जीवन में, उम्र भर ऐसी यह आरजू अपनी निःशेष उत्कटता से कभी जागती नहीं लेकिन कभी न कभी ऐसा सूर्यास्त जरूर आता है जब हमारे समग्र अस्तित्व से पुकार उठती है- 'प्रभु मुझे एक ऐसी सांझ दो जिसके गर्भ में पिया मिलन की रात छिपी हो ।'

हमें अपने जीवन की सांझ को प्रभु-मिलन का गर्भगृह बनाना है । तभी तो इसे श्रृंगार सजने की बेला कहा । जिस काल के भीतर महाकाल से आलिंगन की अभूतपूर्व घटना छिपी हुई है, वह संध्याकाल हमारे लिए

अत्यंत पवित्र और अमूल्य काल है । इसलिए अब शाम होने के बाद इस जीवन का प्रत्येक क्षण अपने प्रियतम की ओर उन्मुख होगा ।

हम सब अपने जीवन में कुछ तपते जरूर हैं, किंतु हमारा तपना और तड़पना रेगिस्तान की रेत की तपिश और तड़पन की तुलना में कुछ भी नहीं । रेगिस्तान का हर नन्हा रजकण स्वयं दहकता अंगारा बन जाता है । हमारे भीतर भी प्रियतम को पाने की ऐसी लालसा दहकेगी तभी वह हमें मिलेगा न । जरा सी प्यास से प्रभु कैसे मिलेगा । सहारा के रेगिस्तान में भटके हुए यात्री की प्यास की कल्पना भी करना कठिन है, लेकिन जब वैसी तृष्णा, वैसी प्यास प्रभु के लिए हमारे भीतर जागेगी तब वह जरूर दौड़कर आयेगा ।

'जीवन संध्या का स्वागत' इसी ललक का फल है । हम सब के जीवन में रेगिस्तान सी विरहाग्नि भभकेगी तभी हम भवसागर पार कर सकेंगे न

वैसे तो मुझे कृष्णमूर्ति की - वर्तमान क्षण में जीने की बात ही जंचती है । प्रत्यक्ष क्षण को समग्रतापूर्वक जीना, उसी को अत्यधिक सुन्दर और पवित्र बनाना यही है मेरी जीवन साधना । लेकिन अभी यू०एन०ओ० ने वृद्ध सम्मान -वर्ष की घोषणा की, उस निमित इस पुस्तक की मांग हुई। तब वर्तमान काल को लांघकर वृद्धावस्था का चिंतन चला । और प्रगट हुई यह पुस्तक - 'जीवन-संध्या का स्वागत' ! मूल गुजराती में लिखी गयी । गुजराती पाठकों ने इसका हार्दिक स्वागत किया । केवल गुजरात में रहने वाले या भारतवासी गुजरातियों ने ही नहीं, पूरे विश्व के गुजरातियों ने इसका स्वागत किया । फलतः इसके कई संस्करण छपे । करीब एक लाख प्रतियां तो इसकी प्रमुख प्रकाशन संस्था ने छापी । अन्य प्रकाशन संस्थाओं द्वारा भी पांच हजार प्रतियां छपीं । इसका स्वागत अधिकतर उन लोगों ने किया जो जीवन के दुराहे पर पहुंच रहे हैं, वन प्रवेश के द्वार पर खड़े हैं । अहमदाबाद की रोटरी क्लब ने अपने गुजराती सदस्यों के साथ साथ हिन्दी-भाषी सदस्यों के लिये इसका हिंदी अनुवाद हमारी बेटी चि०

अमी द्वारा करवाया और उसकी एक हजार प्रतियां छपवाई । 'गुजरात साहित्य परिषद' ने इसे 'भगिनी निवेदिता' पुरस्कार देकर सम्मानित किया लेकिन इसका सबसे बड़ा पुरस्कार तो असंख्य लोगों द्वारा किया गया स्वागत है ।

यह इस पुस्तक का मात्र दूसरा संस्करण ही नहीं बल्कि इसका परिमार्जित स्वरूप है, मूल कृति में कुछ जोड़ा गया है ।

ईश्वर कृपा से इस नये प्रकाशन के निमित बन रहे हैं - दिल्ली निवासी श्री हरिकृष्ण जी गुप्त । कैसे बताऊं कि इस पुस्तक ने मेरे सौभाग्य को कितना समृद्ध किया है । ८नेक सन्मित्र सुहृद मिले और सबसे सिरमौर तो मुझे मिले धर्म पिता । आ० श्री गुप्ताजी ने पितृवत् प्रेम और वात्सल्य से हमें सराबोर कर दिया है । उन्हीं का प्रेम-प्रसाद है यह हिंदी रुपान्तर । आशा है हिंदी पाठकों के आर्शीवाद भी मुझे मिलेंगे ।

मुझे मालूम नहीं कि संस्कृत भाषा में इस वृद्ध शब्द का 'वृक्ष' शब्द से क्या संबंध है, किंतु मुझे तो 'वृद्ध' शब्द विशाल वटवृक्ष का स्मरण करवाता है । किसी वृद्ध के समीप जाना किसी वृक्ष के पास जाने की तरह है । वृक्ष हमें फल, फूल, पत्तियां, शाखाएं तो देता ही है, परंतु सबसे पहले देता है अपनी शीतल मधुर छांव ˙ इससे आगे बढ़कर वह कभी बन जाता हे बोधि-वृक्ष । वृद्धत्व भी ऐसा ही है । इसलिए मेरे हृदय में गीत गूंजता रहता है । -

'वृद्धन् से मति ले रे मनवा, वृद्धन् से मति ले ।'

विष्णु सहस्रनाम में भगवान का एक नाम 'वृद्धात्मा' भी है । आत्मा तो न वृद्ध है न युवा । फिर भी ऋषियों ने परमात्मा को वृद्धात्मा कहा । इसका यही अर्थ अभिप्रेत होता है कि हमारे जीवन में प्रभुता सतत् वृद्धिगत होती रहती है । ऐसी निरंतर वृद्धि-समृद्धि की संभावनायुक्त प्रभुता हम सब के जीवन में प्रगट हो यही अभ्यर्थना ।

अब तो मेरा वनवास भी पूरा हुआ । ज्यों-ज्यों जीवन की गहराइयों में प्रवेश होता है जीवन का अभूतपूर्व सौंदर्य - रहस्य प्रगट होता रहता है और अनायास मुंह से उद्‌गार निकलते हैं, 'ओह, कैसा अद्‌भुत है यह जीवन ।'

मूल पुस्तक का अनुवाद तो चि. अमी ने ही किया था, परंतु प्रस्तुत अनुवाद के साथ एक दूसरा समर्थ नाम जुड़ा है - नंदा का श्रीमती नंदिनी मेहता हिन्दी भाषा की समर्थ कवयित्री है । उसके साथ मेरा संबंध सहोदरा-सा हो गया है, इसलिए अधिक लिखूंगी तो वह पसंद नहीं करेगी । परन्तु इस नये संस्करण को हिन्दी भाषी पाठकों के लिए सहज, सरल और ह्रादयगंम बनाने का यश नंदा को ही है उस को यह किताब सौंप कर मैं अत्यंत निश्चिन्त हो गई । अमी और नंदा का यह संयुक्त संयोजन मूल कृति को उपकारक ही रहा, इसमें कोई संदेह नहीं ।

ईश्वर ने हमें जीवनदान देकर अनमोल वरदान दिया है । केवल श्वासोंच्छ्वास की प्रक्रिया चला कर भी इस छोटी या लंबी जिंदगी को पूरा तो कर ही सकते हैं, या चाहें तो समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त परमसत्ता का प्राकट्य भी इस जीवन में कर सकते हैं । ऐसी अद्‌भुत संभावनाओं से भरे, महामूल्यवान रतन को कांच न समझ बैठें, इस जीवन को प्रेमभरा निमंत्रण दें, 'जिंदगी, ओ जिंदगी, मेरे घर आना ।'

जीवन की उपासना, आराधना द्वारा आखिर हमें पहुंचना है - अमृतत्व के द्वार परम कृपालु परमात्मा सबकी मंगलयात्रा को सफल बनाये यही शुभकामना । अपनी तपश्चर्या, साधना और उत्कट लगन से हमें उसे प्राप्त करना है ।

प्रभु-प्राप्ति की अगनपिपासा सबके अंतर में प्रज्वलित हो, यही अभ्यर्थना ।

मीरा भट्‌ट
४४७/बी, शिशुविहार के सामने भावनगर - ३६४००१, गुजरात

क्या समय पर जाग जायेंगे ?

गुजराती में एक गीत है -

मोर काढ़ने बैठी अंधेरे में

रह गया मोर अधूरा

उलझे धागे सुलझाने में

रह गया मोर अधूरा ।

गांव की किसान स्त्री कह रही है, मुझे बड़ा शौक था कपड़े पर मोर काढ़ने का । किंतु सुबह से इतने कामों में फंसी रही कि कसीदा हाथ में लेते लेते शाम हो गयी, अंधेरा हो गया । अब धागे उलझते जा रहे हैं, अंधेरे में कुछ सूझता नहीं अतः मोर काढ़ने का काम अधूरा ही रहा गया - 'रह गया मोर अधूरा ।'

एक बार विनोबाजी के पास एक वयोवृद्ध सज्जन सत्संग करने आये थे । बातों में उन्होंने विनोबाजी से पूछा, 'बाबा, जीवन का उद्देश्य क्या है ?'

बाबा मुस्कुराकर बोले, भाई, अब सत्तर वर्ष की उम्र में तुम मुझे जीवन का उद्देश्य पूछ रहे हो ।,

शतुर्मुगी - वृत्ति को भगा दें

यही है अंधेरे में मोर काढ़ने बैठना । केवल उन सज्जन की क्या

बात करें, हम सबका भी यही हाल है । हम भी तो अंधेरे में, शाम ढलने पर, जीवन का मूलभूत उद्देश्य ढूंढ़ने की सोचते हैं । ठेठ जीवन की संध्या में ऐसा प्रश्न हमारे मन में जागता है । सूर्योदय से सूर्यास्त तक का समय पानी के प्रवाह की तरह कब बह गया, कहां बह गया कोई सुध नहीं । एक दिन अचानक ख्याल आया तो चौंक पड़े, 'अरे यह क्या ? हम बूढ़े हो गये ? मानों बुढ़ापा चोर की तरह दबे पांव आया हो और हमने उम्र भर कभी बुढ़ापे का नाम भी न सुना हो, बूढ़ों को देखा न हो ! यह तो सब जानते हुए आंख मूंद लेने की बात है, अपनी ही आत्म वंचना है 'बुढ़ापा' मृत्यु इनसे हम कोसों दूर भागना चाहते हैं । यही है शतुर्मुर्गी वृत्ति । किसी भयंकर संकट को सामने देखते ही शतुर्मुर्ग अपना सिर रेत में छिपा लेता है - सिर को चाहे जितना रेत में छिपायें - मौत तो टलेगी नहीं ।

मनुष्य को बूढ़ा होना पसन्द नहीं । एक सज्जन कहते थे, मेरे बाल सफेद हो गये कोई बात नहीं, दांत गिर गये तो उसका भी इलाज ढूढ़ लूंगा, पांव लड़खड़ाने लगेंगे तो वह भी चला लूंगा, परंतु जब अपनी गली से बाहर निकलता हूं और बच्चे दादाजी - दादाजी कहकर पुकारते हैं, तब वह सहा नहीं जाता ।'. . . . यही तो है शतुर्मुर्गी वृत्ति

अटल परिस्थिति का सहज स्वीकार

सिर छुपाने से क्या होगा ? वृद्धावस्था टलेगी ? मृत्यु टलेगी ? सूरज ऊगा और ढला नहीं ऐसा कभी हुआ है क्या ? हम तो मनुष्य हैं । मानव अर्थात् मननशील प्राणी । हमें मनन - चिंतन करके जीवन की वास्तविकताओं को समझ लेना चाहिए । प्रत्यक्ष परिस्थिति को पूरी तरह जान लेना चाहिए । और तब उन्नत मस्तक, सीना तानकर उसका स्वागत करना चाहिए ।

जीवन की कुछ परिस्थितियां, कुछ वास्तविकताएं शायद बदली भी

जा सकती हैं, किंतु कुछ हकीकतें अटल हैं, उन्हें बदल नहीं सकते, टाल नहीं सकते । ऐसी अनिवार्य परिस्थिति का सहर्ष स्वागत कर सकें इसकी हमें समय रहते पूर्व तैयारी करनी होगी । 'चेतता नर सदा सुखी - समय को पहचानेंगे तो हारेंगे नहीं । वृद्धावस्था जीवन की एक अटल वास्तविकता है । इसलिए अगर हम जीवन का उद्देश्य सिद्ध करना चाहते हैं तो यथाकाल उसके लिए पुरुषार्थ आरंभ करना होगा । वरना आखिर में पुरुषार्थ आरंभ करेंगे, वृद्धावस्था में जीवन का मोर काढ़ने बैठेंगे तो खुद उलझी हुई गुत्थियों का एक ढेर बनकर रह जायेंगे ।

जरा इर्द-गिर्द नज़र डालें तो ऐसे उलझे लोगों के झुंड दिखाई देंगे । लोगों के चित्त में ग्रंथियां इस कदर उलझी हुई होती हैं कि उन्हें सुलझाना आसान नहीं । मनुष्य का मन उलझे धागों का पुलिंदा बन जाता है । हमारा जीवन तो होना चाहिए सरल, सीधी रेखा जैसा, अस्खलित बहते झरने जैसा किंतु उसके बदले यह विपरीत परिस्थिति क्यों ?

केवल एक ही बड़ा कारण - जीवन के अंत में आरंभ करने बैठे । समय पर जागे नहीं जीवन को यदि उलझने न देना हो तो जवानी में ही एक पक्का निश्चय करना होगा - यदि ईश्वर दीर्घायु देगा तो अपनी वृद्धावस्था को इतनी सुंदर भव्य-दिव्य बनाऊँ कि वह मेरे जीवन-मंदिर का सुवर्णक्लश सिद्ध हो । दूर-सुदूर से आनेवाला नन्हा भी इस सुवर्णक्लश को देखकर खुश हो जाये । उसके नन्हें हृदय में भी ऐसी प्रेरणा जागे कि वह अभी से अपने जीवन की सार्थकता के खातिर पुरुषार्थ करने लगे । वास्तव में जीवन तभी सार्थक होगा जब पुरुषार्थ का प्रारंभ जवानी में होगा

वृद्धावस्था की तैयारी जवानी में

आरंभ करने से पहले भी एक 'प्रारंभ' होता है । दीपक तो शाम ढलने पर जलायेंगे किंतु दीपक की बाती तो दिन रहते ही तैयार करनी होगी न ! उसके लिए भी शाम की राह देखते रहेंगे तो फिर वही अंधेरे में उलझ

जायेंगे । इसीलिए वृद्धावस्था के स्वागत की तैयारी युवावस्था से आरंभ हो जानी चाहिए । दीर्घायु मिले न मिले, वृद्धावस्था आये या न आये इसे तो प्रभु पर छोड़ दें, हम अपना कर्तव्य करें ।

सुबह शाम का प्रकृति का क्रम तो निश्चित है । डाली पर खिला फूल कभी न कभी झड़ेगा ही । फिर भी झड़ने के अंतिम क्षण तक वह फूल हंसता रहे, पूर्णतया खिलता रहे ऐसा होना चाहिए । यह असंभव नहीं । सवाल जागृति का है, सावधानी का है ।

वृद्धावस्था की भी अपनी एक खास मस्ती है । बुढ़ापे में ऐसी किलकारियां भर सकते हैं कि मानों शैशव आंगन में फिर लौट आया हो । माना कि बचपन में बहुत खेले किंतु वह सब अज्ञान-पूर्वक हुआ, अब कुछ समझदारी से खेलेंगे । वह खेल था अज्ञानमूलक, अब यह होगा ज्ञानमूलक । क्या होगा यह खेल ? जब तक जियेंगे आनंदपूर्वक जियेंगे, और जब मरने का समय आयेगा प्रसन्नता से उसका स्वागत करेंगे । एक कवि ने ठीक ही कहा है -

जीयें तो ऐसे जीयें कि

सब हमारा है

मरें तो ऐसे मरें कि

कुछ भी हमारा नहीं -

गांधीजी ने एक बार विनोबाजी से कहा, ' देखो, विनोबा, भारत के सात लाख गांवों में हमें पहुंचना है, ग्राम सेवा करनी है, परन्तु आखिर तो सब "शून्य" है - यह समझकर ही करना है ' विनोबाजी ने भी जीवन को शून्य की ओर ले जाते हुए ही जिंदगी की आखिरी सांस तक लोगों के

बीच काम किया, और अंत में स्वयं प्रभु चरणों में समर्पित हो गये ।

क्यों न हम भी अपनी वृद्धावस्था का महोत्सव मनायें । अपनी वृद्धावस्था को हंसता - हंसाता खेल बनाना हो तो उसका हुनर भी सीखना होगा -

भले ही एक दिन झड़ जाना है हमें

किंतु उससे पहले जरा महक लें ।

पतझड़ का भी उत्सव मनाना है हमें

किंतु आज बसंत को गले लगा लें

संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है कि मनुष्य को दिनभर ऐसा सेवाकार्य करना चाहिए जिससे वह रातभर चैन से सो सके । खेत में आठ महीने ऐसा काम करना चाहिए कि बारिश आराम से गुजार सके और जवानी में ऐसे जीना चाहिए कि बुढ़ापे में पछताना न पड़े, पूरा जीवन इस तरह बिताना चाहिए कि परलोक सुधार सकें ।

हम भारतवासी परलोक की चिंता में अक्सर इहलोक को भूल जाते हैं । किंतु आरंभ तो इहलोक से होगा न । इहलोक अर्थात् पृथ्वी पर की हमारी यह जिंदगी । आज का प्रत्यक्ष जीवन । प्रभु ने हमें यह जो जीवन दिया है भरपूर जीने के लिए दिया है । अपना वर्तमान क्षण यदि हम समग्रतापूर्वक, सच्चाई पूर्वक, सुंदरतापूर्वक, पवित्रतापूर्वक जीयें तो परलोक सहज ही सिद्ध हो जायेगा ।

बस, समय पर जागना जरूरी है । 'समय पर' याने व्यक्ति मन से बूढ़ा हो जाए उससे पहले । शरीर के बुढ़ापे का समय तो हर व्यक्ति का अलग अलग होता है इसलिए हमें तो देखना है कि मन बूढ़ा हो जाय, कमजोर हो जाये उससे पहले जाग जायें । वरना तो खेल खत्म ही

समझें । इसलिए तो हमारे संत हमें सदियों से सावधान कर रहे हैं

उठ जाग मुसाफिर भौर भयी

अब रैन कहां जो सोवत है

जो सोवत है सो खोवत है

जो जागत है सो पावत है -

हमें ऐसे जीना है कि हमारा हर क्षण जीवन से छलक उठे निर्जीव होकर जीना भी क्या जीना ? अखंड जागृति निरंतर सावधानी और सतत् पुरुषार्थ - यह है जीवन - संध्या के स्वागत की पूर्व तैयारी ।

जीवन मंदिर का सुवर्णकलश

'वृद्धावस्था' से मुझे कोई डर नहीं । क्योंकि मुझे बुढ़ापे का भय भी नहीं है, उससे घृणा भी नहीं है । मेरे मन में बुढ़ापे के प्रति गहरे आदर की भावना है, क्योंकि बुढ़ापा मेरे जीवन-द्वार पर दस्तक दे, उससे पहले ही मैंने उसके स्वागत की पूरी तैयारी कर ली है - कितने लोग हैं जो ऐसा कह सकेंगे ?

कैसी तैयारी ?

सबसे महत्व की बात है - वृद्धावस्था की ओर देखने की अपनी दृष्टि । हमारे जीवन में 'तिथि' निश्चित करके आने वाला यह अतिथि हमारा जिगरजान दोस्त भी बन सकता है और आत्मघातक शत्रु भी सिद्ध हो सकता है । इसका आधार तो हमारा दृष्टिकोण है । किसी दिन दर्पण में हमारी नजर अचानक बालों से झांकते चांदी के तारों पर पड़ जाये तो हृदय की धड़कन रुकने लगेगी या ओठों पर मुस्कुराहट खिलेगी यह तो हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर करेगा यदि हमने मानसिक रूप से स्वयं को सावधान कर लिया है तो हम मुस्कुरा देंगे, वरना शायद आंसू निकल आयें बेहतर यही है कि हम अपने मन को इस तरह तैयार कर लें कि वृद्धावस्था का स्वागत कर सकें, उसे जीवन के आंगन में उगा अनमोल रत्न समझ सकें ।

सफेद बालों का मूल्य

गुजरात के एक प्रसिद्ध साहित्यकार के जीवन की यह घटना है । स्व० श्री रसिकभाई झवेरी एक बार इंग्लैड गये । लंदन के मार्गों पर

घूमते-घूमते यह औलिया यात्री एक संकरी गली में पहुंच गये । वहाँ अनेक तरह की छोटी-मोटी दुकानें थी । केश संवारने की एक दुकानदार लड़की ने उन्हें जब अपनी दुकान में आने का निमंत्रण दिया तो वे कौतुहलवश अंदर गये । वह लड़की कहने लगी 'महाशय, आपके बाल कैसे सफेद हो गये हैं ! यदि आप इस कुर्सी पर कुछ देर के लिए बैठें तो में आपके इन सफेद बालों को काली चमकदार जुल्फों में बदल दूं । इसकी आपको कोई कीमत नहीं चुकानी होगी, आप घबराइये नहीं । बल्कि डेमान्स्ट्रेशन के बदले में आपको बाल रंगने की एक बोतल भेंट में दूंगी ।

अब क्या कहा हमारे झवेरी भाई ने ? रसिकभाई की रसिकता ने, औलिया से दीखते इंसान की अनुभूति ने उस आंग्लबाला को हतप्रभ कर दिया । रसिकभाई मुस्कुराकर बोले, ओ मेरी मैया, सिर के इन बालों को सफेद करने में मुझे अपनी जिंदगी के मूल्यवान पचास वर्ष खर्च करने पड़े हैं और तुम कहती हो कि इन्हें यूं ही फिजूल केवल पल भर में काला करवा लूं- ना, ना माताजी ये सौदा तो नहीं पटेगा ।'

काले बालों का सफेद होना यह कोई स्थूल रूपान्तर नहीं है । यदि हमारे कान साबुत हों तो हम सुनेंगे कि यह रूपांतर मात्र बालों का नहीं, हमारी वृत्तियों का है । भीतर ही भीतर कोई क्रांति हो रही है, सब कुछ बदल सा रहा है - उसका यह स्पंदन है । लेकिन मुश्किल तो यह है कि बाहरी शोरगुल और दौड़धूप में भीतरी आवाज सुनने के कान कहाँ ? ऐसी फुरसत कहां ? और इसीलिए चलती रहती है वही रफ़्तार बेढंगी ।

श्री रसिक झवेरी के प्रत्युत्तर में मनुष्य-जीवन का एक परम सुंदर सत्य छिपा है । वृद्धावस्था को ईश्वरदत्त अभिशाप नहीं बल्कि वरदान समझना है । जीवन की मुल्यवान पूंजी खर्च करके प्राप्त की हुई कमाई है । हालांकि एक बात जरूर सही है कि वृद्धावस्था रूपी बहुमुल्यवान रत्न चीथड़ों में लिपटा हुआ है । और इसलिए अधिकतर लोगों का यह रत्न धूल में ही मिल जाता है । वृद्धत्व एक ऐसी अवस्था है, जो बाह्य दृष्टि से देखें तो न सुंदर है न ही वांछनीय । सिर के काले सुंदर बाल सफेद पड़ जायें, त्वचा

पर झुर्रियों के झुरमुट बन जायें, मुंह भी खोखला सुराखों वाला, और पैरों में कोई दम न रहे - घर का आंगन लांघना भारी हो जाये - कैसे अच्छा लग सकता है यह सब ? इसलिए यदि समय पर चेत जायें, समग्र जीवन के बारे में सच्ची समझ प्राप्त कर लें तो चीथड़ों में लिपटे इस रत्न की जगमगाहट हमें भी प्रकाशित करेगी ।

जीवन का क्रम

दिन और रात, कुल चौबीस घंटे । उघड़ते प्रभात की आभा, फिर रंगभरी उषा, सुनहरी सुबह, सूरज ज्यों ज्यों ऊपर चढ़ता है दोपहर का प्रखर ताप, मध्यान्ह होते-होते दूसरी तरफ की यात्रा का आरंभ फिर संध्या का आगमन, अंत में रात, आधीरात, फिर प्रभात । दिन-रात के प्रत्येक प्रहर का अपना विशेष सौंदर्य दीख पड़ता है । पर काल का अपना एक व्यक्तित्व है, स्वतंत्र अस्तित्व है । अपना-अपना जादू है । बस, यही कहानी है हमारे जीवन की । शैशव, बचपन, किशोर और युवा, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था । प्रत्येक अवस्था की अपनी खासियत है, अपना सौंदर्य है- किंतु हैं सभी एक ही चैतन्य की प्रक्रियायें या एक ही चेतन्व का प्रवास

जीवन के हर मुकाम की अपनी समस्याएं हैं । समस्या के बगैर जीवन कैसा ? समस्या होना यह अपने आप में कोई जीवनघाती बात नहीं बल्कि यह है जीवन की चुनौती । इन समस्याओं के बहाने ही जीवन की गहराइयों का परिचय होता है, जीवन का लावण्य प्रगट होता है और जीवन-सौंदर्य का रहस्य उद्घाटित होता है । संभवतः वृद्धावस्था में समस्याओं की मात्रा कुछ ज्यादा ही होती है लेकिन साथ ही उनमें आनंद और सृजन की भी अधिक गुंजाइश है । इन सारी संभावनाओं का आधार हमारा दृष्टिकोण और हमारा अभिगम है ।

वृद्ध 'ओल्ड' नहीं 'गोल्ड' है

हममें से अधिकतर लोगों ने श्री रविंद्रनाथ ठाकुर, श्री अरविंद या विनोबाजी का उनकी वृद्धावस्था में दर्शन तो नहीं किया होगा, किंतु उनकी तस्वीर जरूर देखी होगी । गुरूदेव की वृद्ध छवि कितनी मनोहर, कैसी

दीप्तिमय है । माथे पर फरफराते रुपहले बाल ऐसे लगते हैं मानों बसंत की बहार छायी हो । उनके तेजोमय नयन और मुस्कुराता वदन देखकर लगता है मानों त्रिभुवन का सौंदर्य सिमट आया हो । ८५ वर्ष की आयु में विनोबाजी की त्वचा नवजात शिशु सी स्निग्ध और कोमल, मक्खन सी मुलायम थी । हमारे इन बुजुर्गों का सौंदर्य ब्यूटी पार्लरों का मुहताज नहीं था न ही यह उनका परिणाम था । तो फिर कहा से आया ऐसा अद्वितीय सौंदर्य - क्या है रहस्य इसका ?

एक मात्र रहस्य है - जीवन के बारे में सच्ची समझ की प्राप्ति । सही समझ से ही जीवन का सौंदर्य और शील प्रगट होता है । हमारी भाषा की खूबी देखी । अंग्रेजी में बूढ़े के लिए शब्द है The Old Man या Aged. संस्कृत भाषा का शब्द है - 'वृद्ध' शरीर जर्जर हो गया है लेकिन मनुष्य तो है 'वृद्धि' - जिसने 'वृद्ध' को पाया, जो निरंतर वृद्धिसंगत होता रहता है, नित्य नूतन है, वह है वृद्ध । वृद्ध है नित्य वर्धमान । वृद्ध ने अपनी अवस्था की पिटारी में सिर्फ वर्षो के ढेर ही नहीं समेटे हैं, बल्कि वह तो भरी है जीवन की अमूल्य अनुभूतियों से, अनगिनत प्रयोग और पुरूषार्थो से । अनेक अनुभवों से समृद्ध ज्ञान और कठिन कसौटियों को पार करके निखरे प्राण तो वृद्धावस्था की चददर के ताने-बाने हैं । प्रत्येक सफेद बाल और शरीर की हरेक झुर्री गुजरे जमाने की साक्षी है । बीते हुए सांस उसांस की गूंज है । अनेक शाश्वत सत्यों को आत्मसात् करके उनमें आविष्कार करके यह वृद्धावस्था आयी है । वयोवृद्ध मनुष्य केवल शरीर से वृद्ध नहीं, वह ज्ञानवृद्ध है, तपोवृद्ध है, शीलवृद्ध है । इन सारी वृद्धियों का पलड़ा इतना भारी है कि इनके सामने शरीर की क्षणता का क्या महत्व ? इसलिए बुढ़ापा जर्जरता का संकेत नहीं बल्कि वह वृद्धि, समृद्धि और सिद्धि-संसिद्धि का संकेत है । वह मात्र बरसों का, क्षणों का जोड़ नहीं है । वर्षो का जोड़ तो पशु-जीवन में भी होता है, किंतु मनुष्य की वृद्धावस्था में तो क्षणों के गुजरने के साथ साथ जीवन में पाये हुए ज्ञान, अनुभव, तप, स्नेह, सेवा और सौजन्य का भी जोड़ होता है ।

पके फल की मिठास

इसका अनुभव हमें वनस्पति सृष्टि में होता है । कच्चा आम खट्टा लगता है, यदि गेंद की तरह किसी के माथे पर फैंके तो खून निकल आयेगा क्योंकि तब फल सख्त और कड़ा होता है । परंतु वही कच्चा हरा आम सुनहरी रंगत पाते ही मीठा-मधुर बन जाता है । मानों धरती का अमृत । यदि आम-मात्र एक फल - अपना वक्त आने पर अमृत-दाता बन सकता है तो क्या मनुष्य उससे पीछे रहेगा ? मनुष्य तो चैतन्य है । उसके जीवनरूपी आम्रकुंज में यह वृद्धावस्था मधुर रस सरसाने के लिए ही तो आती है । मनुष्य का अहंकार जब पिघल जाये तभी सुधारस की प्राप्ति होती है । यह सुधारस है मनुष्य का सत्व । मनुष्य मात्र स्थूल देह तो नहीं । मन, बुद्धि, चित्त, अंतः करण यह उसका अंतर्देह है । वृद्धावस्था में बाह्य देह जर्जर हो जाता है किंतु जीवनभर के तप से परिशुद्ध होकर अग्नि से गुजरे सुवर्ण की तरह वृद्ध मनुष्य के भीतर का उजाला बाहर तक फैल जाता है ।

बात तो समझने की है

इस तरह जीवन के बारे में सच्ची, सही, स्वस्थ, परिपक्व समझदारी प्राप्त करना यही है - जीवन संध्या का स्वागत, वृद्धावस्था की पूर्व तैयारी । क्योंकि हरेक के जीवन में वृद्धावस्था समग्र जीवन की निष्पत्ति है, समूचे जीवन की परिणति है । हमारा पूरा जीवन जैसा बीता हो, जैसे कर्म, आदतें, वृत्तियां रही हों उन्हीं रंगों से तो बुढ़ापे का चित्र बनेगा । सीधा सा हिसाब है - हम यदि बुढ़ापे का असली सौंदर्य प्रगट करना चाहते हैं तो उसके लिए जिंदगी भर प्रयत्न करना होगा, अभ्यास करना होगा । इसी अभ्यास के आधार पर रुपहले बालों का पवित्र सौंदर्य लहरायेगा । इन बालों से ढके मस्तिष्क को हिमालय की ऊंचाई पर ले जायें तो फिर वहां से पुण्यसलिला गंगा तो निश्चित ही बहेगी - सबको पावन करेगी ।

यह वृद्धावस्था हमारे जीवन मंदिर की धर्म-ध्वजा है, सुवर्ण कलश है । जीवन भर के पुरूषार्थ का परिपाक है । गंगासागर जैसा तीर्थ है जहां नगाधिराज हिमालय से निकली गंगा सागर में समा जाती है ।

नहीं ऐसो जनम बारंबार

मनुष्य और पशु के बीच साम्य भी है, अंतर भी । हाथ, पैर, नाक, कान आंख, प्राण तो समान ही हैं, फिर ऐसा कौन-सा फर्क है जो स्वयंसिद्ध है ? मनुष्य चाहे जितना भी पशुतुल्य जीवन बिताये, कभी न कभी उसके मन में यह प्रश्न तो उठता ही है कि, मैं कौन हूँ और मुझे कहाँ जाना है ?

जीवनम् सत्य शोधनम्

मनुष्य के मन में जागनेवाला यह प्रश्न ही उसे अन्य जीवों से भिन्न सिद्ध करता है । प्रभु कृपा से मनुष्य एक विशिष्ट चेतना का स्वामी है जिसके कारण उसके जीवन में परमचेतना से बिछुड़ने का वियोग, दुःख महसूस होता है और वहीं से इस जीवन में 'परमतत्व की खोज' आरंभ होती है ।

यह खोज, यह तलाश हमें अध्यात्म की ओर ले जाती है । आत्मतत्व पर जो अधिष्ठित है, वह है अध्यात्म । मानवता का आधार आत्म तत्व है । इसलिए मानव-जीवन का परम ध्येय है - आत्म तत्व की खोज । इस खोज का आरम्भ बुढ़ापे में करना है, यह हमारी गलतफहमी है । हम ऐसा गलत मान बैठे हैं कि वेद उपनिषद, गीता-रामायण आदि धर्मग्रथों में इन गंभीर प्रश्नों की चर्चा की गयी है, इसलिए इन्हें बुढ़ापे में ही हाथ लगाना चाहिए । ऐसी सोच तो नादानी है । जीवन के मूलभूत प्रश्न की छानबीन, उसके प्रत्युत्तर की खोज जीवन के आरंभ से ही शुरू करनी होगी । शंकराचार्य जब पांच ही वर्ष के थे, उनके चित्त में यह प्रश्न तीव्रता

से जागृत हुआ और वे बेचैन हो गये । यह सर्वविदित है कि उन्होंने बत्तीस वर्ष की छोटी आयु में परमतत्व को प्राप्त किया, स्वयं प्राप्त किये हुए ज्ञान को लोगों तक पहुंचाया । उन्होंने अपना ध्येय प्राप्त करने के बाद अपनी जीवन लीला समेटी और प्रभुचरणों में स्थान पाया । यदि वे बुढ़ापे की राह में बैठे रहते तो ? जीवन को यदि समझना है तो इस प्रश्न के उत्तर की खोजयात्रा यथा समय ही शुरू कर देनी होगी ।

इसी बात को पू० जयप्रकाशजी ने बड़े सुन्दर ढंग से कहा है, जीवन की सबसे ऊंची उड़ान अध्यात्म है और यह उड़ान तो तरूणाई में ही भरी जा सकती है । केवल शंकराचार्य ही नहीं, बुद्ध, महावीर, राम, कृष्ण, ज्ञानदेव, विवेकानंद, ईसा-मसीह सबने अपनी जवानी में ही इस क्षेत्र में प्रवेश किया था । जो प्रारंभ से इस क्षेत्र को अपनायेंग उनकी वृद्धावस्था निराली ही होगी ।

हमें अपना आरोग्य सदृढ़ रखने के लिए हर बात में शुरू से ही सावधानी बरतनी पड़ती है । इसी तरह मानसिक स्वास्थ्य के खातिर भी सही समझदारी चाहिए । - अध्यात्म साधना के लिए 'मैं देह नहीं हूं' इस मूलभूत तथ्य की प्रतीति आवश्यक है, अतः हमें देहभाव से ऊपर उठने का सतत् प्रयास करना होगा । हमें ध्यान रखना होगा कि दिनभर में हमारा कितना समय इस देह के लिए व्यतीत होता है । भोग-विलास के विषयों में कितना चिंतन चलता हे । और भी ऐसे छोटे-मोटे कितने ही काम हैं जो देह से जुड़े हैं । ईश्वर ने हमें शरीर दिया है, यह शरीर एक बड़ा महत्वपूर्ण साधन है तो उसका हमें पूरा ध्यान रखना ही है । तेल जले बगैर यंत्र चलेगा कैसे ? लेकिन जीवन का उद्देश्य मात्र देहोपासना हो जाय जिंदगी का हर क्षण उसी के लिए बीतने लगे तो हमें तुरंत सावधान हो जाना चाहिए ।

आत्मा का अनुभव करें

क्षण भर के लिए ही क्यों न सही, हमें इसका अनुभव होना चाहिए

कि हम देह से परे एक परम तत्व हैं । परमतत्व से बिछुड़ा हुआ इश्वरी आत्मतत्व हमारे भीतर है, इसकी संपूर्ण अनुभूति न हो तब तक देह से ऊपर उठने की साधना करनी होगी । चाहे जितने व्यस्त क्यों न हों, दिन भर में एक निश्चित समय निकालकर गहराई में बैठना होगा । वह गहराई ऐसी होगी जहां स्थूल जगत् से कोई संपर्क न रहे, बस केवल 'मैं' रह जाऊँ ।

वृद्धावस्था पूर्ण विराम नहीं अर्ध-विराम

यह आत्मस्थ स्थिति शुरु में शायद बहुत अल्पकाल टिके लेकिन धीरे धीरे हमें इसे लंबे समय तक - दूर तक ले जाना होगा । कितनी दूरी तक ? क्या अनंत काल तक ? जिस तरह नदी सागर में मिलने से पहले और बाद में भी सतत् बहती रहती है, उसी प्रकार हमें भी आत्मस्थ होकर सतत् बहते रहना है । इस दृष्टिकोण को अपनायेंगे तो हमारी समझ में आयेगा कि वृद्धत्व जीवन का अन्त नहीं बल्कि प्रभु मंदिर की देहलीज है जिसे पार करके ईश्वर के दरबार में प्रवेश करना है वृद्धत्व तो साजन के घर जाने से पहले सिंगार सजने की शाम है । इसके बाद ही तो आयेगी, पिया मिलन की रात । हम मनुष्य तो परम प्रभु से बिछड़े आत्मतत्व हैं । देहभाव के मिटते ही अर्थात् इच्छाएं और वासनाएं निर्मूल होते ही, आत्म तत्व अपने मूल परमतत्व में विलीन हो जायेगा । किंतु यह सब तभी सधेगा जब इसके लिये पूर्व तैयारी हो, पूरी साधना हो और तभी वृद्धत्व सकुशल पार होगी ।

परमात्मा तो इतना कृपालु है कि वह तो हमें जैस का तैस अपना ही लेगा, लेकिन क्या हमें स्वयं यह सुहायेगा कि हम मैले-कुचैले उसके घर जायें ? प्रियतम तो सब निबाह लेगा लेकिन हमारा भी तो कोई कर्तव्य है । कबीरजी थे जो विश्वासपूर्वक कह गये - ज्यों की त्यों धरी दीन्हीं चदरिया । लेकिन हमारी चदरिया की बात तो हमें सोचनी होगी । इस पर लगे मैल को, इसके दागों को तो हमें ही धोना होगा न ! सारी जिंदगी इसी पुरुषार्थ में लगे रहना है - इसी पुरुषार्थ की अंतिम कड़ी है वृद्धावस्था

इस तरह वृद्धावस्था साज सजने की संध्या है । 'नहा ले, धो ले, शीश गुंथा ले साजन के घर जाना होगा ।' साजन के घर पहुंचने के लिए मृत्यु को पार करना है । मृत्यु कोई भयंकर घटना नहीं । मृत्यु से डरने की जरूरत नहीं । मृत्यु अमंगल भी नहीं । हमारे मन में मृत्यु के बारे में कुछ गलत संस्कार जग गये हैं, जिनकी वजह से हम मृत्यु को अति भयानक, अशुभ मान बैठे हैं - उसका नाम लेना भी वर्ज्य मानते हैं ।

मृत्यु परममंगल है

मृत्यु के बारे में हमें सही समझ प्राप्त करनी होगी । वृद्धावस्था में जीवन और मृत्यु दोनों सांस-उसांस की भांति साथ जीते हैं । मनुष्य के हर सांस में मृत्यु की आहट सुनाई देती है । हम जानते हैं कि मृत्यु अटल है, फिर भी वह अपरिचित है और इसलिए मनुष्य उसके नाम से ही कांपता है । वैसे तो जीवन में रोज ही हमें अपरिचित क्षेत्र, अपरिचित परिस्थिति का सामना करना पड़ता है किन्तु मृत्यु की अपरिचितता डरावनी लगती है । यह हमारे संस्कारों का परिणाम है । मृत्यु को 'यमराज' का नाम देकर हमने भयंकर विभीषिका खड़ी कर रखी है ।

सर्व प्रथम तो हमें इस 'अशुभ' से छुटकारा पाना होगा । किसी के देहांत की खबर को 'अशुभ' क्यों माना जाय ? मृत्यु हमें इसलिए अशुभ लगती है क्योंकि उसमें प्रियजनों से वियोग है । और वियोग की खाई को कभी लांघ नहीं सकते, यह वियोग तो फिर चिर वियोग ही बन जाता है । मृत्यु के साथ जुड़ी इस असह्य वेदना से, अंगार की तरह सुलगती पीड़ा से कैसे मुक्ति पायें ?

जीवन में कुछ सत्यों को स्वीकार करना ही पड़ता है । चाहे वे कितने ही कटु क्यों न हों । सृष्टि के नियम में रात-दिन के चक्र को कोई तोड़ नहीं सकता, वैसे ही सुख और दुःख, मिलन और विरह के चक्र से कोई

छूट नहीं सकता । गीता में इसे ही द्वंद कहा गया है - एक सिक्के के दो पहलू की तरह हमेशा साथ साथ चलते हैं । अगर किसी से मिलन की चाह है तो उसके विरह की तैयारी रखनी ही पड़ेगी । इसलिए दुःख काटने का एक ही उपाय है - 'तृष्णाक्षय' - भगवान बुद्ध की तपस्या की फलश्रुति ।

पुनर्मिलन की संभावना

क्या पुनर्मिलन संभव है ? विनोबा ने इसका उत्तर दिया था, 'मन में केवल निःस्वार्थ प्रेम और सेवा की भावना हो तो प्रियजन का दूसरे जनम में फिर मिलन हो सकता है ।' आसक्ति अलग चीज है- प्रेम अलग । हमारे अपने स्वार्थवश किसी से चिपके रहें यह आसक्ति है, सामने वाले व्यक्ति के हित और सुख के खातिर उसके सान्निध्य की इच्छा रखना प्रेम है । प्रेम अर्थात् देना, प्रेम अर्थात् दूसरे को समृद्ध करना । इस प्रकार का नित्यज्यि, निर्मल, निरपेक्ष प्रेम यदि मरने वाले के प्रति होगा तो पुनः मिलन संभव है ।

'जेहिको जेहीपर सत्य सनेहू-सो तेही मिलत न कछु संदे हू' ।

वियोगभक्ति की उपासना

मृत्यु का शोक कम करने का एक उपाय और भी है । मन को निरंतर ऐसा अभ्यास करवायें कि मिलन केवल स्थूल सान्निध्य में ही नहीं है । मनुष्य दूर रहकर भी हर पल साथ रह सकता है । देह में रहते हुए तो थोड़ा बहुत वियोग सहन करना ही पड़ता है, जबकि विदेहावस्था में सूक्ष्म ओर परोक्ष संयोग में तो निरंतर मिलन ही मिलन है । इसलिए प्रिय जनों के साथ अंतर के तार जोड़ना सध जाय तो मृत्यु के स्थूल वियोग का इतना महत्व नहीं रहेगा । मृत्यु के उस पार भी अखंड मिलन ही मिलन है ऐसी श्रद्धा मृत्यु की पीड़ा को सहनीय बना सकती है ।

जन्म जन्मांतर की बात

भारत की विचारधारा में पुनर्जन्म को माना गया है । यह भी एक बहुत बड़ा आश्वासन है । यदि कोई पुनर्जन्म को न माने तो जीवन के अनेक प्रेरणास्रोत सूख जायेंगे । यदि दूसरा जन्म है ही नहीं तो अब बुढ़ापे में ज्ञान प्राप्त करने की क्या जरूरत ? किंतु यात्रा आगे भी जारी रहने वाली है यह विश्वास हो जाय तो इस जन्म में प्राप्त किया ज्ञान बाद में भी काम आयेगा, इस जन्म का ज्ञान निरर्थक नहीं जायेगा इसकी खात्री होगी । अगले जन्म की शुभयात्रा में काम आने वाली यह हमारी सच्ची पूंजी साबित होगी । मृत्यु के बाद काम आने वाली चीजों में एक है हमारे कर्म और दूसरी यह समझ । पुनर्जन्म में विश्वास करें तभी ऐसी श्रद्धा जागृत हो सकती है ।

इसके अलावा एक महत्व की बात है - ऋणानुबंध । यदि ऋणानुबंध होगा तो हम दुबारा अवश्य मिलेंगे । प्रेम का ऋण, यह सबसे बड़ा ऋण है । इस ऋण के ताने-बानें हमें अपने प्रियजनों से अवश्य मिलायेंगे ऐसी श्रद्धा हमारे मृत्यु-शोक को हलका कर सकती है ।

मृत्यु के डर का एक कारण अपरिचितता है यह हमने देखा । इसका एक अमोघ उपाय भगवान ने गीता में बताया है । उन्होंने कहा है - 'न हि कल्याणकृत कश्चित दुर्गतिम् तात गच्छति ।' कल्याण कर्म करने वाले कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होते । और जहां दुर्गति नहीं वहां डर कैसा ? सत्कर्म करने चले तो आगे सुगति ही है । मृत्यु के बाद दुर्गति की संभावना तभी है न जब हमने दुष्कर्म के बीज बोये हों । यदि हमारा पूर्व जीवन अज्ञानवश दुष्कर्मो से भरा हो तो फिर कोई उपाय नहीं । अपने कर्मों का फल भुगतने के लिए तैयार रहना ही पड़ेगा ।

चंबल घाटी के बागियों ने जब विनोबाजी के चरणों में शस्त्र समर्पित किये तब बाबा ने उनसे कहा था 'आप लोगों ने अपने शस्त्र मुझे सौंप दिये इसका अर्थ यह मत मानिये कि मैं आपके पूर्व-अपराधों की सजा से आपको

मुक्त कराऊँगा । आपको अपने कर्मों का फल तो भुगतना ही पड़ेगा । क्योंकि इस जन्म में मैं आपको छुटकारा दिलवा दूंगा तो भगवान दूसरे जन्म में सजा देगा । इसलिए अच्छा है कि आप इसी जन्म में अपने अपराधों की सजा भुगत लें ।'

प्रायश्चित और नाम स्मरण

परम कृपालु भगवान ने सबके लिए एक दरवाजा खुला छोड़ रखा है । पापों को धोने के लिए पश्चाताप का पुनीत झरना बह रहा है, और पापों से मुक्ति दिलाने की शक्ति प्रभु स्मरण में है । जिस तरह अदालत से फांसी की सजा पाया हुआ अपराधी राष्ट्रपति की कृपा से मौत से बच सकता है उसी प्रकार दुष्कर्म या पाप की सजा से छूटने की शक्ति 'नाम स्मरण' में है ।

विनोबाजी ने १०८ साम्य सूत्रों की रचना की है । उसमें एक सूत्र है - तद्धि पापापहारि - अर्थात् उसके द्वारा पापों का भी हरण होता है । हमारे पुराण में अघमर्षण नाम का सूक्त है । अघ अर्थात् पाप । यह पाप-विमोचक सूक्त है । प्रथम तो अंतर में अपने किये 'पाप' की प्रतीति होनी चाहिए । मैंने जो किया वह दुष्कर्म था, पाप था । जिस क्षण इसका भान हुआ उस क्षण से पाप के पुनरावर्तन से तो हम बच ही गये । सच्चे पश्चाताप से बड़े से बड़े पापी को महात्मा बनते हमने देखा है । इसलिए तो कहा है- Every Sinner has a future and every saint a past. प्रत्येक पापी के लिए आने वाला 'कल' प्रकाशित हो सकता है यदि वह पश्चाताप की अग्नि परीक्षा से गुजरने को तैयार हो ।

दूसरा चरण है - नाम स्मरण । नाम स्मरण मात्र मुँह से नाम जपना या माला फेरना नहीं है । माला या जप तो केवल आधार देने वाले वाह्य उपकरण हैं - चलने में मदद करने वाली बैसाखी । किंतु अगर पाँव ही न होंगे तो बैसाखी का क्या उपयोग ?

साक्षात् प्रभु के स्थान पर है 'प्रभु का नाम ।' रामनाम से पत्थर तर गये यह लोकोक्ति है । नाम स्मरण का अर्थ है - हर पल ईश्वर की छाया में होना । गांधीजी कहते थे - 'मेरा एक भी क्षण - सोते या जागते ऐसा नहीं है जब अंतर में रामनाम न हो ।' हम प्रति क्षण प्रभु से घिरे रहेंगे, उससे जुड़े रहेंगे तो धीरे धीरे प्रभुता हमारे भीतर बस जायेगी । परमात्मा तो हमारे भीतर आकर वहीं ठहरने को उत्सुक है, वह तो हमारे हृदय द्वार पर खड़ा ही है - किंतु हम उसके लिए वहां तनिक जगह खाली रखें तब न ? हमारा अंतर तो ठूंसा पड़ा है भौतिकताओं से, क्षुद्र आकांक्षाओं से । प्रभु के लिए तो कोने में खड़े रहने की भी जगह नहीं । 'नाम स्मरण' द्वारा हमें प्रभु के लिए जगह बनानी है - धीरे धीरे उसके लिए पूरा मैदान खाली कर देना है । अंखड नामस्मरण सधेगा तो जीवन नियंता से हमें ऐसी शक्ति प्राप्त होगी कि पुराने पाप घुल जायें । अजामिल, अंगुलिमाल, बाल्मीकि, आम्रपाली आदि अनेक ऐसे दृष्टांत हैं, जो 'रामनाम' के सहारे तर गये ।

इस तरह 'नाम स्मरण' मृत्यु के भय को जीतने का अनुपम साधन है । प्रभु-नाम से पक्का नाता जोड़ लें तो दुनियाँ का कोई भय हमें सता नहीं सकता । किंतु जीवन की अंतिम घड़ी में भगवान का नाम जिह्वा पर आना इतना आसान नहीं । उसके लिए जीवन भर की अखंड साधना चाहिए । तुलसीदासजी ने लिखा है-

जनम जनम मुनि जतन कराहीं

अंत नाम कहि आवत नाहीं ।।

ज्ञानी-मुनि जन्म भर प्रयत्न करते रहते हैं फिर भी बड़ी मुश्किल से ही किसी को यह सधता है । अंतिम क्षण मुंह से रामनाम निकलता नहीं इसलिए अखंड श्वासोच्छवास की तरह राम नाम का जप अखंड चलना चाहिए ।

अगर कल्पना करें कि जगन्नियंता ने 'मृत्यु' न बनाई होती तो इस संसार की क्या हालत होती । बूढ़े, जर्जरित, खंडहर जैसे जीव-जंतु से लेकर समग्र प्राणी सृष्टि अपनी जगह पकड़े रखने के लिए एक दूसरे से भयंकर झगड़ा करती होती - ब्रह्मांड का हर कोना संघर्षमय हो जाता । मृत्यु से भी हजारों गुना अधिक विभत्स दृश्य नजर आता । मृत्यु के कारण तो नवजीवन का स्वागत है । उसी के कारण जीवन में उत्कटता है, साहस है, तड़पन है । जिंदगी चार दिन की चांदनी है तभी तो इतनी मधुर है । सृष्टिकर्ता ने "सर्जन और विसर्जन" की जो योजना बनायी है, वह इस संसार के लिए आशीर्वाद है । वास्तव में संपूर्ण नाश तो किसी वस्तु का होता नहीं, जो होता है वह रूपांतर मात्र है । मृत्यु के बाद हमारे देह का रूपांतर होता है । जब हमारी सभी वासनाएं निःशेष हो जायें, हम परम तत्व में विलीन हो जायेंगे अन्यथा नये वस्त्र पहन कर फिर नयी देह धारण करेंगे । पुराने वस्त्रों को फैंक देने की घटना को 'अशुभ' कैसे कहें ?

वृद्धावस्था मात्र मृत्यु की प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने की अवस्था नहीं है । वृद्धावस्था उत्कृष्ट साधना की भूमि है । यह पूर्ण विराम नहीं, अर्द्धविराम है, अल्प विराम है । इसके आगे भी हमारी यात्रा जारी रहने वाली है । मानव जीवन के एक मात्र उद्देश्य आत्म साक्षात्कार को सिद्ध करने की यह अवस्था है । काम, क्रोधादि विकारों से मुक्त ऐसा जो हमारा मूल आत्मस्वरूप है, उसमें स्थित होने का नाम है - आत्म साक्षात्कार ।

नरदेह - अनमोल रत्न

योगेश्वर ज्ञान देव महाराज ने इस नर देह को अनमोल रत्न कहा है । मीराबाई भी हमें सचेत कर गयी हैं -

'नहीं ऐसो जनम बारंबार

क्या जानूं कछु पुन्य प्रकटे

मानुसा अवतार ।'

यह मानव देह बार-बार नहीं मिलने वाली ।

'बढ़त पल पल, घटत छिन छिन

चलत न लागे बार ।'

हरक्षण हमारा आयुष्य कट रहा है । सूर्य भगवान रोज-रोज हमारी उम्र का एक टुकड़ा निगल रहा है । इसलिए प्रभु कृपा से प्राप्त इस मानवशरीर द्वारा प्रभुता पाने का पुरुषार्थ हमें करना है । हर इंसान में स्थित पशुतत्व क्रमशः कम होता चले और मानव तत्व बढ़ता चले, अंत में दिव्यत्व को प्राप्त करे यही हमारी साधना हो ।

सतत जागृति के बगैर यह संभव नहीं । और सतत जागृति के लिए प्रार्थना जप, ध्यान, भजन, सत्कर्म आदि जो साधन हमारी वृत्ति को अनुकूल लगें उन्हें ग्रहण करना चाहिए ।

हर रोज सुबह से शाम तक हम अनेक लोगों से मुलाकात करते रहते हैं किंतु हमें स्वयं अपने से मुलाकात का वक्त नहीं मिलता । परिणामतः हम स्वयं से अपरिचित-अजनबी रह जाते हैं । हमारी अपनी पहचान होगी तभी तो प्रभु की पहचान होगी । भक्ति अर्थात् पूजा पाठ इत्यादि कर्मकांड नहीं । भक्ति अर्थात् परमात्मा के साथ परिचय - परमात्मा के साथ हमारा संबंध । हमारी बाहरी और ऊपरी भूमिकाओं से स्वयं को हटाकर, रोज ब्राह्म मुहूर्त में प्रभुमय होने का प्रयत्न करना चाहिए । समग्र ब्रह्मांड का भ्रमण हमें अपने भीतर करना है, क्योंकि यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे । ब्रह्मांड में जो तत्व है वही मानव पिंड में भी है । इस विचार को आत्मसात करना ही आध्यत्मिक साधना है । हमें शीघ्रातिशीघ्र इसे सिद्ध करना है ।

महाकवि कालिदास ने कहा है - दिवसों अवसान रमणीयः -दिवस का अवसान-अर्थात् सूर्यास्त रमणीय है । इसी तरह जीवन का अवसान भी रमणीय है । जैसे परिपक्व फल अपने आप झड़ जाता हे उसी तरह देह

अपने आप छूट जाती है । ऐसी सहज मृत्यु शुभ घटना है, मंगल प्रयाण है । इस मंगल पर्व का उत्सव मनायेंगे तो मात्र जाने वाले के दिल में ही नहीं, पीछे रह जाने वालों के दिल में भी मांगल्य छा जायेगा । किंतु ऐसा करने के लिए मृत्यु को प्रयाण का मंगल उत्सव बनाने के लिए हमें इसी क्षण जागना होगा -

साधो । यही घड़ी, यही बेला

कोटि खरच फिर हाथ न आये

मानव जनम सुहेला ।

तन तीरथ, तू आतमदेव

वृद्धावस्था की पूर्व तैयारी के बारे में जब हम सोचते हैं, तब उसके अंतर्गत विविध क्षेत्रों की विविध पूर्व तैयारियाँ समाविष्ट हैं । जैसे शारिरिक, मानसिक, अध्यात्मिक और सामाजिक । सब प्रकार की तैयारियों के बिना जीवन संध्या कैसे सुशोभित होगी ? हमने तो अब दृढ़ निश्चय कर ही लिया है कि जैसा हमारा बचपन सुंदर, निर्दोष, पवित्र, प्रेमपूर्ण तथा दूसरों के लिए सुखदायी था वैसा ही सुंदर-सुखदायी हमारा वृद्धत्व भी होगा। बचपन का माधुर्य तो पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों का प्रतिफल था, अब वृद्धत्व की सौंदर्यमूर्ति हमें अपने पुरुषार्थ से गढ़नी होगी ।

हम रोज प्रार्थना करते हैं -

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात् । ।

सब सुखी हों, सब निरोगी हों, सबका कल्याण हो, और कोई दुखी न हो । सब 'निरामये' अर्थात्' निरोगी हों । इन सब में वृद्ध भी शामिल हैं । बुढ़ापे में हम निरोगी कैसे रहें - यह जानना बड़ी आवश्यक बात है।

स्वस्थ शरीर - स्वस्थ मन

किसी भी साधना के लिए आद्य साधन तो अपनी देह है, यह बात निर्विवाद है । शरीर चंगा तो सब चंगा । इसलिए पूर्व तैयारी का आरंभ देह से करना ही होगा । मनुष्य को मात्र एक नहीं - दो देह प्राप्त हैं ।

कठोपनिषद में दो प्रकार की इद्रियों का वर्णन है - अंतर्मुखी और बहिर्मुखी । अंतदेह में मन, बुद्धि, चित, अंतःकरण आदि हैं । और बाह्य में - आंख, कान, नाक, जीभ, स्पेंशन्द्रियाँ आदि हैं । हमारी पूर्व तैयारी में दोनों का समावेश हो ।

बाह्य शारिरिक पूर्व तैयारी के लिए हमें अपनी जीवन पद्धति को बदलना होगा। जीवन शैली बदलने में सबसे अधिक तो हमारा मन ही आगे आता है । इसलिए अपने मन को समझाना-मानना ज्यादा जरूरी है । मन अनुकूल हो जाये तो नब्बे प्रतिशत काम पूरा हो जाता है ।

सौ वर्ष जीने की इच्छा रखना है

हम विज्ञानयुग में ही रहे हैं । इसमें मनुष्य की आयु-मर्यादा बढ़ी है । १९२१ में भारतवासी की औसत आयु २६ वर्ष से कम थी, जो ५० साल के बाद १९७१ में बढ़कर ५२ वर्ष की हुई, और अब तो इससे भी आगे बढ़ रही है । १९७१ में देश की ६ प्रतिशत जन संख्या की उम्र ६० साल से भी अधिक थी । आज भारत में अंदाजन पांच करोड़ वृद्धजन हैं । बीसवीं सदी के अंत में उनकी संख्या करीबन सात करोड़ हो जायेगी । देश में अगर इतनी बड़ी संख्या की एक इकाई भी जागृत और संगठित हो जाये, उसका वैज्ञानिक और सुनिश्चित आयोजन हो जाये तो उससे समाज को बहुत लाभ हो सकता है ।

ईशोपनिषद में एक महत्वपूर्ण सूत्र है - 'जिजिविषेत् शतम् समाः । मनुष्य को सतत् कर्मरत रहते हुए सौ साल जीने की इच्छा रखनी चाहिए । इसके लिए यह संकल्प तो करना ही होगा कि यदि सौ साल जीना है तो निरोगी रहकर जीना है, और योजनापूर्वक जीना है । सच्चे हृदय से किया संकल्प हमारी बड़ी मदद करता है । मानव जन्म बार-बार मिलता नहीं । अतः लंबे तंदुरुस्त जीवन के लिए इस नैया की पतवार स्वयं अपने हाथों में संभालेंगे तभी संसार सागर को खुशी खुशी पार कर सकेंगे ।

'शतं जीव शरद, शतायुवै पुरुषः' - इन आशीर्वादों में मनुष्य जीवन की सम्भावनाएं छिपी हैं । हमारे यहां सौ साल की उम्र स्वाभाविक मानी गयी होगी तभी तो 'शतायु भव' कहते होंगे ।' मैं सौ साल जीऊंगा ऐसा संकल्प करके मनुष्य की जिजीविषा जागृत करनी है । जिजीविषा की शक्ति से जिंदगी टिकाने में मदद मिलती है यह अनुभव सिद्ध बात है जब किसी बीमार की जीने की इच्छा मर जाती है तब डाक्टर भी हार जाता है । बीमार की या किसी की भी जीने की इच्छा दृढ़ होना बहुत जरूरी है । वैसे तो यह सत्य हे कि मृत्यु का क्षण अटल है और पूर्व निर्धारित है, तथापि हमें तो सौ साल जीने का सुंदर आयोजन कर ही लेना चाहिए । ऋषि-आज्ञा भी यही है । इसलिए सौ वर्ष तक जिस गाड़ी में बैठने का हमारा इरादा है उस गाड़ी के बारे में बेपरवाह रहने से तो चलेगा नहीं । जैसे अपने स्कूटर या गाड़ी की हम साल भर में एक बार तो सर्विसिंग जरूर करवाते हैं वैसे इस शरीर का भी आयंलिंग, क्लीनिंग आदि साल में एक बार ठीक से हो ही जाना चाहिए । साल में एक महीना शुद्ध, ताजी हवा की खास जगह या प्राकृतिक चिकित्सालय में रहना चाहिए जिससे शरीर शुद्धि हो सके । ऐसी शरीर शुद्धि की जरूरत उम्र के ४० साल के पश्चात् अत्यंत आवश्यक है । किसी निष्णांत चिकित्सक के मार्गदर्शन में यह कार्य करना चाहिए जिससे 'शतायु' जीवन आनंदमय हो । देह हमारा साधन है इसलिए इस साधन को, इसके कल पुर्जों की देखभाल करना, उन्हें ठीक रखना हर साधक का सहज धर्म है ।

बुढ़ापा बीमारी नहीं है

बुंढ़ापे में शरीर कमजोर हो जायेगा इसलिए हम पंगु और मजबूर हो जायेंगे ऐसा भय हरेक को सताता है । इसलिए फिर हम भगवान से प्रार्थना करने लगते हैं - प्रभु मुझे जल्दी उठा लेना, जिससे हाथ-पांव चलते रहें और किसी की सेवा न लेनी पड़े । यह इच्छा बड़ी स्वाभाविक है । कई लोग अंतिम समय तक कार्यशील रहते हैं और ऊपर का न्योता आते ही

'जी, हाजिर' कहते हुए चल देते हैं । इसलिए बुढ़ापे का अर्थ बिस्तर पकड़ना नहीं है । यह हमारी भ्रांति है कि हमने बुढ़ापे और बीमारी को एक ही मान लिया है । हमें ऐसा नहीं सोचना चाहिए । यदि सम्यक् आहार-बिहार का ध्यान रखा जाये तो वृद्धावस्था बिना बीमारी के योगपूर्वक बितायी जा सकती है । मरने का कारण मात्र रोग ही नहीं है और बुढ़ापा स्वयं कोई रोग नहीं है । नितांत निरोगी, स्फूर्तिमय, सक्रिय वृद्धत्व संभव है ऐसा मन में विश्वास होना चाहिए । अपने आसपास ऐसे अनेक वृद्धों के दर्शन हमें होते रहते हैं ।

शरीर बूढ़ा होने पर, जीवन भर की घिसाई के कारण कुछ शिथिल हो जाय यह तो स्वाभाविक है । किंतु घिसे हुए अंगों को बीमार क्यों समझें इसलिए मन में दृढ़ निश्चय होना चाहिए कि बुढ़ापे में बीमारी को नज़दीक नहीं आने देंगे । मन मजबूत होगा, तो तन अपने आप मजबूत होगा । Sounc mind in sound body. स्वस्थ देह में स्वस्थ मन । तन दुरुस्त, मन दुरुस्त । इसलिए सबसे पहले तो हमारे मन में से बुढ़ापे को बाहर निकाल फेंकना है । तब शरीर का बुढ़ापा इतना कष्टदायक नहीं होगा । मन से अगर बूढ़े न हों तो शरीर की इतनी चिंता नहीं रहेगी ।

नियमितता जरूरी

शरीर को काबू में रखने के लिए नियमितता अत्यंत जरूरी ही है । नियमित आहार-बिहार यह निरोगी वृद्धावस्था की प्रथम आवश्यकता है । वृद्धावस्था घड़ी के मार्गदर्शन में चले तो शरीर को बड़ा सहारा मिल जाता है । रोज की दिनचर्या तय हो जाना चाहिए । इससे परिवार वालों को भी सुविधा रहती है । शरीर के साथ आहार, विहार, और निद्रा अभिन्न रूप से जुड़े हैं । इन तीनों का सामंजस्य, निश्चित नियम हो तो अंतिम समय तक आरोग्य को संभाला जा सकता है ।

आहार-विवेक

आहार और खान-पान के बारे में काफी चिंतन हुआ है और अनेक प्रयोगों के आधार पर आहार के प्रति विवेक जागृत हुआ है । वृद्धावस्था में इस आहार विवेक को बनाये रखें यह बहुत जरूरी है । जवानी में तो कच्चा-पक्का, देर-सवेर सब चलता है - सब हजम हो जाता है । लेकिन अब बुढ़ापे में यह सभंव नहीं यह तो हमें समझना ही होगा । इसलिए बुढ़ापे में हमें हर कौर का हिसाब रखना होगा ।

मांस - मछली अंडे का संपूर्ण त्याग

वैसे तो मांसाहार हरेक के लिए हानिकारक है यह मांस खानेवाले लोग जानते हैं । खैर सारी दुनियाँ को तो क्या कहें ? किंतु वृद्धावस्था में इन सारी चीजों को त्याज्य मानना चाहिए । बल्कि भारी भोजन, तले हुए, मिठाई इत्यादि भी पचाने में तकलीफ होती है इसलिए इनसे भी दूर ही रहना चाहिए ।

घर में तो सब तरह के खाने बनेंगे ही लेकिन बुढ़ापे में तो अपने मन को, अपनी जीभ को रोकना ही होगा । कभी जरा सा चख लिया, किसी का मन रख लिया वह बात और है किंतु ठूंस-ठूंस कर तो नहीं खा सकते ।

आहार विज्ञान में क्या खायें इसके साथ कितना खायें इसका भी बहुत महत्व है । मिताहार बुढ़ापे का परममित्र हे । पेट का एक चौथाई हिस्सा खाली रखें तो गैस, अपचन से होने वाले रोगों से बचा जा सकता है । मिताहार का अर्थ है नपा तुला निश्चित आहार । यदि दो रोटी खानेके लिए कहा गया है तो दो ही खानी चाहिए । रोटी का नाप भी पेट तय करेगा । हमारी कोई ठगाई पेट को बरदाश्त न होगी । हमारे यहां कहा गया है कि

आँखों को त्रिफला, दाँतों को नौन,

पेट को भरे पौन, तो वैद को पूछे कौन ।

समय का भी आहार के साथ बड़ा संबंध है । दिन में यदि चार बार खुराक लेनी है तो उसका समय निश्चित हो । समय पालन में कभी जरा फर्क हो सकता है लेकिन प्रयत्न यही होना चाहिए कि समय के पांबद रहें । खाने के समय के अनुसार ही शौच का समय तय होता है । यह तो नैसर्गिक चक्र है । बुढ़ापे में सामाजिक औपचारिकता, व्यावहारिकता, मेहमान वगैरह की चिंता कम करें तो अच्छा है । हमारे शरीर को अनुकूल न हो तो खाने के लिए कहीं बाहर जाना टालें । पार्टी, महफिल, दावतों से भी दूर रहना ही ठीक है । जिस मशीन से हमने बरसों तक निरंतर काम लिया है अब अगर वह जरा कमजोर हो जाय तो उसका बोझ हमें कम करना ही होगा न ?

शाम के समय हल्का भोजन लेना चाहिए । फल, दूध, खाकरा, दलिया इत्यादि चीजें पचने में हल्की होती हैं। हल्का पेट और साफ ये दो आरोग्य की प्रधान कुंजियाँ हैं । कम खायें तो शायद शुरू में खाली पेट नींद गड़बड़ाये ऐसा हो सकता है । किंतु जब मन हमारे काबू में रहे-तो नींद भी आ जायेगी । ढलती उम्र में वैसे भी नींद कुछ कम हो ही जाती है । नींद कम लेकर भी यदि दिनभर तंद्रा विहीन, पूर्ण जागृति रहे तो नींद का प्रयोजन पूरा हो जाता है । दिन भर तंद्रा या अनींदापन बना रहे इतनी कम या इतनी जरूरत से ज्यादा नींद नहीं लेनी चाहिए ।

बुढ़ापे में आँख, कान, दाँत आदि अवयव भी काल क्रमेण कमजोर पड़ेंगे ही । उनसे पूर्ववत् काम लेने का आग्रह क्यों रखें । आँख कमजोर हो गई है तो पढ़ना कम कर दें । कानों से तेज आवाज सहन नहीं होती है तो उससे बचें । दाँत भी छुट्टी पर चले गये हैं तो चने-चबाने की छुट्टी कर दें- सारी जिंदगी तो सब खाते ही रहे हैं अब नहीं खाया जाता तो उसका पछतावा क्यों ?

आजकल का जीवन खासकर बड़े शहरों में, ऐसा हो गया है कि आराम से बैठकर समय पर खाना भी नसीब नहीं होता । जैसे तैसे दोचार कौर उतारे और भागे- क्या खाया इसका पता ही नहीं रहता । बस आंखें तो घड़ी के कांटों पर लगी रहती हैं । चबा-चबा कर खाने की बात कौन सुने ? लेकिन सही तरीका तो है कि 'खाने को पीयो और पीने को खाओं' अर्थात् खाने को इतना चबायें कि वह प्रवाही हो जाये और पीने के पदार्थ को चबाने की तरह धीरे-धीरे घूंट-घूंट पीयें । इससे हमारे मुंह के सारे पाचक रस खाने-पीने में घुल जाते हैं और वे आसानी से पच सकते हैं । विनोबाजी दूध को मुँह में इस तरह घुमाते थे कि लगता था कोई ठोस चीज़ खा रहे हैं ।

इस तरह पाक-शास्त्र यह सिर्फ स्वादिष्ट खाने बनाने का ही शास्त्र नहीं किंतु एक बड़ा महत्वपूर्ण आरोग्य-शास्त्र है ।

भोजन तो सरस होना ही चाहिए किंतु साथ ही हमारा स्वास्थ्य भी ऐसा उत्तम हो कि उसमें से स्वतः रस छूटे । मुंह में पानी आना वैसे तो स्वास्थ्य की निशानी है किंतु सिर्फ इतना ध्यान रखना होगा कि यह 'रस' हमारा शत्रु न बन जाये । इसीलिए संतों ने हमें सावधान किया है कि 'भोजन यह उदर भरण' नहीं है, यह तो 'यज्ञ कर्म' है । यज्ञ में धीरे-धीरे घी, समिधा-सामग्री डाली जाती है उसी तरह मनुष्य की क्षुधा कुण्ड की अग्नि में अन्न रूपी समिधा को धीरे-धीरे डालें । विनोबाजी ने एक वाक्य में पूरी बात कह दी है ।- 'भोजन स्वादयुक्त हो और उसे हम अस्वादयुक्त होकर खायें ।' कोई चीज़ स्वादिष्ट लगी तो अधिक खा ली यह कैसे चलेगा ।

जिह्वा हमारी परम मित्र और परम शत्रु दोनों बन सकती है । अक्सर हम देखते हैं कि बुढ़ापे में यद्यपि शरीर के अन्य सारे अंग काफी शिथिल हो जाते हैं तब भी जीभ के बड़ी जागृत रहती है । उस पर तो जैसे बुढ़ापे का कोई परिणाम ही नहीं होता । जीभ के दो काम स्वाद और बोलना

दोनों का संयम अत्यंत आवश्यक है । इसलिए मनुष्य की जीभ को बार-बार सिखाया गया है -

कटुक बचन मत बोल रे ।

'सोना' सोना है

निद्रा बुढ़ापे की उत्तम दवा है । किंतु दुर्भाग्यवश कई लोगों को सोने की दवा लेनी पड़ती है । नींद कम आये तो कोई हर्ज नहीं लेकिन जितनी नींद आये वह गहरी हो । कितने समय नींद आयी उसका उतना महत्व नहीं । कैसे गहरी नींद आयी वह महत्वपूर्ण है । कुदरत की दृष्टि से तो नींद का यही प्रयोजन है कि दिन भर काम करके थके हुए शरीर को रात में आराम मिले । नींद में हाथ पावों की गति तो रुक जाती है लेकिन तब हमारा मन और हमारी प्रवृत्तियाँ भी अपनी भागदौड़ छोड़कर स्थिर हुई कि नहीं यह देखना जरूरी है । इसलिए निःस्वप्न गहरी नींद स्वास्थ्य की निशानी है । साथ ही साधना की दृष्टि से भी यह एक सिद्धि मानी जाती है । प्रयत्नपूर्वक सपनों को दूर रखना चाहिए । मन निस्तरंग, शांत रहे, उसकी चंचलता रात को निष्क्रय रहे इसका अभ्यास करना होगा । निःस्वप्न निद्रा यह चित की एकाग्रता की कसौटी है । ईश्वरनिष्ठा दृढ़ हो तो ईश्वर के स्वप्न नहीं देखने पड़ते । हमारी सारी इंद्रियाँ अपने मूल धारक बिंदु में स्थिर हों यह जरूरी है । इस तरह साधना और आरोग्य दोनों के लिए निःस्वप्न निद्रा अति आवश्यक है ।

नींद गहरी होगी तो उसकी बाद की जागृति भी अंखड होगी । आधे सोये, आधे जागे ऐसी तंद्रावस्था बड़ी भयानक होती है - उससे तो बचना ही होगा । तंद्रा प्रमाद का लक्षण है । और प्रमाद बड़ी दुःसाध्य बीमारी है- अनेक अनिष्ठों की जड़ है ।

गहरी नींद के लिए हाथ-पैर धोकर स्वच्छ होकर साफ बिस्तर पर लेट जाना चाहिए । दिन भर का काम खत्म कर लिया है, सब निपटा लिया

है, 'बस, अब कुछ नहीं' ऐसा पक्का निर्णय करके, मन के सारे व्यापार को शून्य करके अब आँखें मूंद लेनी हैं । सोने के लिए नींद की गोली के बदले हरिनाम की गोली तो संतों ने दे रखी हैं हमें । इस उत्तम गोली को क्यों भूलें । श्वासोच्छ्वास के साथ साथ हरिनाम चले । विनोबाजी कहते हैं सांस भीतर लें तो कहें 'राम' और जब सांस छोड़ें कहें- 'हरि' । राम-हरि, राम-हरि का जप करते हुए प्रभुचरण में लीन हो जायें तो अपने आप नींद आ जायेगी । हरिनाम की गूंज में हमें शांत होना है । 'शांत होना' ही शमन की प्रक्रिया है । सब कुछ विलीन हो जाये, ईश्वर के साथ एकाकार हो जाये ऐसी प्रगाढ़ निद्रा को विनोबाजी ने 'मृत्यु का पूर्व प्रयोग (Rehearsal)' कहा है । निद्रा समाधिरूप हो । जब शरीर मरता है तब देह की संपूर्ण गति, संपूर्ण हल-चल रुक जाती है, वैसी ही इस पूर्व प्रयोग में श्वासोच्छ्वास को छोड़कर बाकी सारा निःशब्द हो जाये ।

खाट - पाट दोनों को संभालें

गुजराती में एक कहावत है- जिसकी खाट और पाट संभल गई तो मानों उसका पूरा जीवन संभल गया । खाट याने खटिया के साथ कामवासना जुड़ी है तो पटिया के साथ स्वादवासना जुड़ी है । दोनों में संयम रखना है । नरसिंह मेहता के प्रसिद्ध भजन 'वैष्णवजन' में भी यह बात कही है- 'वाच-काछ मन निश्चल राखे ।' काछ याने कच्छे, वाच याने वाणी । पूरे जीवन में और विशेष रूप से जब उम्र बढ़ने लगे खाट-पाट दोनों को संभालने की अत्यंत आवश्यकता है ।

विहार में सम्यक दृष्टि

अंतः और बाह्य दोनों प्रकार का विहार होता है । हमारे देश के संतों का विहार तो प्रसिद्ध है । भारतीय संस्कृति को सुदृढ़ बनाने में, उसका विस्तार करने में संतों के विहार का बड़ा योगदान रहा है । 'विहार' प्रदेश का नाम भगवान बुद्ध के विहार पर से ही पड़ा है । यहां तो हमें अपने तन-मन के आरोग्य से संबंधित विहार का विचार करना है ।

विहार में घूमना, व्यायाम, हल्का श्रम आदि का समावेश है । शरीर को गति में रखना जरूरी है । मन जब ढीला पड़ जाता है तब शरीर को भी सुस्ती का बहाना मिल जाता है, पानी का प्याला भी कोई हाथ में थमा दे तो अच्छा । इसलिए अब बड़ी सावधानी पूर्वक मन को सुख से, आलस्य से बचाना होगा - चलो उठो, अपने हाथ से पानी का प्याला ले लो वरना पानी का यह छोटा-सा प्याला हमारे हाथ पांव छीन लेगा - हमें पंगु बना देगा । जितना संभव हो अपने हर छोटे-मोटे काम स्वयं करने की आदत डालें । घर के, परिवार जनों के भी हल्के फुल्के काम करें । पहले शायद यह सब कभी न भी किया हो तो भी अब नये सिरे से इनकी आदत डालनी बहुत जरूरी है ।

विश्राम के लिए श्रमोपासना

श्रम चित्त शुद्धि का एक महत्वपूर्ण साधन है । विनोबाजी ने एक सूत्र दिया है- 'श्रमसंजात वारिणां-' श्रम से पैदा हुए पानी (पसीने) से राग-द्वेषादि वृत्तियों को नष्ट करने में मदद मिलती है । बुढ़ापे में कैसा श्रम हो ? शरीर को चूर-चूर कर दे ऐसा असह्य कठिन श्रम नहीं बल्कि पसीना छूटे उतनी मेहनत का काम । पसीना बहानेवाला परिश्रम तो मानों देह मंदिर का धूप-दीप है । मंदिर में धूप-अगरबत्ती इसीलिये जलाते हैं कि वहां शुद्धि रहे, दुर्गन्ध दूर हो जाये । वैसे ही हमें शरीर में रोग पैदा करने वाले जंतु और दुर्गन्ध दूर करनी है । यथा-सभंव श्रम तो अंतिम सांस तक करते रहना चाहिए । चीन के संत कन्फ्यूशियस की एक कथा प्रसिद्ध है - एक खेत में बाप-बेटे दोनों मिलकर कुएं से पानी खींचकर फसल सींच रहे थे, यह देखकर किसी राहगीर ने कहा भाई, इस विज्ञान के जमाने में बिजली से चलने वाले पम्प छोड़कर तुम दोनों क्यों इस तरह पानी खींचने में जुते हो ? तब पिता ने धीरे से कहा, 'अरे भाई जरा धीरे बोलो, तुम्हारी बात कहीं मेरा बेटा सुन न ले । देखो जो मनुष्य श्रम से विमुक्त हुआ समझो जीवन से भी विमुक्त हो गया । श्रम ही इस जीवन का चैतन्य-स्रोत है ।'

शरीर श्रम के कारण बहता हमारा प्रस्वेद ही हमारी प्रसन्नता का कारण है ।

बूढ़े शिथिल शरीर को चैतन्य-स्रोत की अधिक आवश्यता है । इसलिए विनोबाजी ने श्रम को 'जीवन-काव्य' कहा है । श्रम से हमारे प्राणों का संगीत सुनाई देता हे श्रम बिना विश्राम का अनुभव भी नहीं हो सकता । श्रम द्वारा ही हमारा जीवन-सौरभ प्रकट होता है । इसलिए श्रमोपासना को आध्यात्मिक-साधना के बराबर मानना चाहिए । विज्ञान का श्रम से कोई विरोध नहीं है । घिसे बिना चंदन महकता नहीं ।

चलते रहो - चलते रहो - चरैवेति चरैवेति

हल्के परिश्रम के अलावा बुढ़ापे में कुछ घूमना बहुत जरूरी है । चलना एक उत्तम व्यायाम है । इससे शरीर के हरेक अवयव को कसरत मिलती है, शरीर का रक्ताभिसरण सुचारू रूप से होता हे । सुबह शाम, खुली हवा में, विशाल आकाश के नीचे टहलने से मन प्रसन्न हो जाता है । मनुष्य का सृष्टि के साथ जितना अधिक संपर्क बना रहेगा । उसका स्वास्थ्य उतना ही अच्छा रहेगा । इसीलिए बम्बई की घुटनभरी खोलियों में रहने वाले श्रमिक की अपेक्षा खुले खेतों में काम करने वाले किसानों का स्वास्थ्य ज्यादा अच्छा रहता है । सूर्योदय के पूर्व स्वच्छ ताजी हवा में घूमना बहुत लाभदायी है ।

एक बार एक विदेशी सज्जन विनोबाजी से अपने देश की बातें कर रहे थे - 'हमने अपने देश में सौ-सौ मंजिल की इतनी ऊंची-ऊंची विशाल इमारतें बनायी हैं कि तमाम सुविधाएं हमें वहीं उपलब्ध हो जाती हैं । सब चीजें वहीं मिल जाती हैं । बाजार, मनोरंजन, सिनेमा, नाटक सब कुछ ऊपर ही मिल जाता है ।' उनकी बात सुनकर विनोबाजी बोले, 'यह तो बड़ी अच्छी बात है । सब कुछ ऊपर मिल जाता है, अब उसमें एक बात और जोड़ दीजिए । अभी तो 'आपको मृत देह दफनाने के लिए जमीन

पर आना पड़ता है, उसकी व्यवस्था भी ऊपर ही हो जाये तो कैसा रहे ?'

मनुष्य धरती की संतान है । इस धरती से नाता तोड़कर कैसे चलेगा ? विज्ञान की नयी-नयी खोजों के साथ नयी नयी बीमारियां भी पैदा हो गयी हैं । इसका कारण हमारा अप्राकृतिक जीवन है । प्रकृति से हम जितने दूर होंगे उतना हमारा अधिक नुकसान होगा । भगवान की दी हुई चीजों की अपेक्षा हम अपने बनाये कृत्रिम सामान को अधिक महत्व देंगे तो कैसे चलेगा ? आंखों से अधिक महत्व ऐनक को दें, सूर्योदय -सूर्यास्त के सौंदर्य से अधिक सौंदर्य बिजली के लट्टूओं में देखने लगेंगे तो जीवन के सच्चे आनंद से वंचित रह जायेंगे ।

दिन-रात के चौबीस घंटों में प्रातः काल सुवर्णकाल है । इस सूर्योदय से पूर्वकाल को ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं । अर्थ स्पष्ट है - ऐसा काल, ऐसी घड़ी, ऐसा पल जब हमें अत्यंत व्यापक ब्रह्म का स्पर्श हो सकता है । प्रातः कालीन शुद्ध हवा चित्त के साथ साथ फेफड़ों को भी शक्ति देती है । नियमित रूप से यदि शुद्ध हवा में श्वासोच्छवास नहीं करेंगे तो शायद फिर आक्सीजन की बोतलों की जरुरत पड़े । दीर्घ और गहरी सांस-उसांस के साथ प्रभु स्मरण की आदत डालें तो सुबह का टहलना तीर्थयात्रा जैसी पवित्र यात्रा हो जाएगी । जब तीर्थयात्रा करते हैं, या मंदिर जाते हैं हमारे मन में एक मंगल भावना का वास होता है । वैसे ही प्रकृति के सृष्टि मंदिर में जब हम टहलेंगे तो हमारे चित्त में उदात्त विचार जागेंगे । शुभ संकल्प की प्रेरणा होगी । 'चर' धातु का विचार संचार, आचार, उपचार के साथ संबंध है । घूमने के ये सारी प्रक्रियाएं सुचारु रूप से हमसे जुड़ जाती हैं इसलिए उपनिषद के ऋषि हमें आज्ञा देते हैं - चरैवेति, चरैवेति - घूमते रहो - घूमते रहो । चलते रहो ।

सुबह टहलने के अलावा भी जिसमें कुछ चलना हो सके ऐसा काम बुजुर्ग लोग कर सकते हैं । घर में सब्जी तो रोज लानी ही पड़ती है ।

अगर उस काम को घर के बुजुर्ग लोग कर सकें तो घर के काम में सहारा भी हो जायेगा और उनका चलना भी । इसी तरह रोज शाम को मंदिर या कहीं सत्संग में जाने की आदत भी अच्छी है । भीड़भाड़ पसंद न हो या बाजार में चलने में पेरशानी होती हो तो किसी बगीचे में भी जा सकते हैं - नये नये लोगों से मिलना भी हो जायेगा । आज कल शहरों के बगीचों में बच्चों के साथ कई बुजुर्गों के दर्शन होते ही हैं । आपस में बातें करने से उनका मानसिक तनाव भी कम हो जाता है । घर पर भी मित्र-साथी रिश्तेदार आते रहें तो बड़े लोगों को अच्छा लगता है ।

सभी तरह की योजनाओं के बीच एक सर्वभौम सत्य को नहीं भूलना चाहिए । किसी बात का अतिरेक न हो । अति सर्वत्र वर्णदेत् । देर रात तक जागना या गपबाजी बूढ़े शरीर को सहन नहीं होगी । हर कोई अपने तन-मन की अनुकूलता को स्वयं समझे और वैसी समय की पाबंदी अपनाये । ताश, शतरंज, चौपड़ आदि भी खेल सकते हैं लेकिन उसकी मर्यादा हो ।

हमारा काम काज बड़ा उल्टा है । जब घर से बाहर प्रकृति की गोद में पहुंचना चाहिए हम बिस्तर में घुसे रहते हैं और सोने के समय गांव में चक्कर काटते हैं । यह चक्कर काटना यदि शांत, निःस्तब्ध रात्रि के खुले एकान्त में हो तो उससे लाभ हो लेकिन भीड़भाड़ वाले, चारों ओर की दुकानें, होटलों से उठते शोर के बीच चलने से तो स्वास्थ्य को नुकसान ही होता है । इसलिए एक उम्र के बाद यथा संभव रात को घर के बाहर जाना टालना चाहिए । करीब ९ बजे के आसपास सोने की आदत डाल लें तो सुबह जल्दी उठने में कठिनाई नहीं होगी ।

रोज घूमने के बाद हल्का व्यायाम या आसन तंदुरुस्ती के लिए जरूरी है । नियमित आसन करने से शरीर के हर अंग की कसरत हो जाती है । हमारी देह में हर क्षण जीवन-मृत्यु का संघर्ष जारी है । पंच महाभूतों से जो पोषण शरीर को मिलता है उसमें से सजीव परमाणु उत्पन्न होते हैं और शरीर के निरंतर श्रम से वे नष्ट होते हैं । मृत परमाणु का निकास

सही ढंग से न हो तो वे इंद्रियों की शक्ति क्षीण करते हैं - इंद्रियों के लचीलेपन को हानि पहुंचाते हैं । चपलता-लचीलापन तारुण्य के लक्षण हैं और जड़ता बुढ़ापे का । इसलिए देह को तरोताजा रखने के लिए आसन उपयोगी हैं । मृत पेशियों के निकास के लिए रक्ताभिसण ठीक से होना चाहिए । यौवन में रक्त की तेज गति ही काम करने की शक्ति देती है । इसलिए ज्यों-ज्यों श्रम, व्यायाम, घूमना कम होने लगता है खून की गति मंद हो जाती है और तब वृद्धत्व हमारी देह पर कब्जा जमा लेता है । अतः शरीर में खून की गति ठीक रखने के लिए आसन जरूरी हैं ।

बीमारी सहने की कला

बुढ़ापा अर्थात् बीमारी नहीं है फिर भी हम सब बीमार तो होते ही रहते हैं । पूरी सावधानी के बावजूद बीमारी आती ही रहती है । फिर बुढ़ापा तो कांच के बर्तन की तरह नाजुक होता है - जरा सी असावधानी तकलीफ देह हो जाती है ।

स्वस्थ रहना एक बड़ी कला है । उसी तरह अच्छा बीमार बनना भी एक कला हे । बीमारी की मजबूरी में हमारे स्वभाव के अपरिचित पहलू प्रकट होते रहते हैं ।

बीमारी का सामना करने के लिए तरह-तरह के उपचार, दवा सब नियमित हों यह अत्यंत आवश्यक है और यह सब किसी की सहायता के बगैर संभव नहीं । परिवार वाले यथा-सम्भव सेवा करते ही हैं । किंतु अब कोई चौबीसों घंटे हमारी सेवा में ही लगा रहे ऐसी इच्छा तो योग्य नहीं है न ? हम बीमार हैं, हमें तो आराम की जरूरत है, लेकिन इसकी वजह से घर के अन्य लोग भी अपने काम-धाम छोड़कर बैठ जायें यह संभव नहीं । जरूरी सेवा तो सब करेंगे ही-किन्तु हम किसी को बेकार परेशान न करें । मन का भटकना रोक कर शांत रहने का प्रयत्न करें । आंतरिक आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया में Only being की एक स्थिति बताई गई है जिसमें कुछ करना नहीं है - बस, हम हैं । बीमारी

में यदि ऐसी स्थिति प्राप्त करने की साधना करें तो रोग की आफत हमें योग का अवसर प्रदान करेगी ।

बीमारी में रोज स्पंज अर्थात् गरम पानी में भिगये कपड़े से शरीर को पोंछ लेना चाहिए । मौसम के अनुरूप कुछ ओढ़े रखना चाहिए । उबला पानी जब गुनगुना रह जाय पीना चाहिए । एलोपैथी दवायें लेते हों तब भी समय बेसमय खाते रहना ठीक नहीं । उसका कुछ नियम रखें । छोटी मोटी बीमारी में तो घरेलू दवाएं, होमियोपैथी या आयुवैदिक दवाएं ज्यादा फयदा करती हैं । शरीर को आवश्यक पोषण जरूर मिले किंतु पाचन यंत्र पर अधिक बोझ न पड़े इसकी पूरी सावधानी बरती जाये । डाक्टर भले ही कहे कि कुछ भी खा सकते हैं किंतु हम अपना विवेक संभालें । हल्का खाना जैसे मूंग का पानी, खिचड़ी, चावल, खाखरा इत्यादि चीजें बीमारी में आसानी से पच जाती हैं । बीमारी में कभी-कभी उपवास उत्तम औषधि ा का काम करता है । काम की छुट्टी तो खाने की भी छुट्टी कर दें । वैसे एलोपैथी दवाओं के साथ कुछ खुराक न लें तो Reaction आते हैं । इसलिए क्या खाना और न खाना यह तो हर एक की अपनी परिस्थिति पर निर्भर करता है ।

बीमार के साथ कैसा व्यवहार किया जाय यह भी एक कला है । अक्सर बीमार का हाल पूछने वाले उसकी बीमारी बढ़ाने का कारण बन जाते हैं । रोगी तो खुद ही परेशान है, घर के लोग चिंतित हैं ऐसी हालत में रोग की भयानकता का वर्णन करके उनकी तकलीफ को बढ़ाने से क्या फायदा ? बीमार को आपकी सहानुभूति और मदद की जरूरत है, आतंक की नहीं । बीमार के पास ऐसे लोग जांये जो उसकी हिम्मत बढ़ायें, दिल बहलायें, उसका मन हल्का करें । बाकी फर्जी तौर पर आनेवाले शुभेच्छकों से तो तौबा । हमारे जीवन के हर क्षेत्र में कृत्रिमता और औपचारिकता कुछ बढ़ ही गयी है उसकी छाया को कम से कम बीमार से तो दूर रखें । इसलिए बीमार की भलाई, उसका आराम, उसकी खुशी - उसका स्वास्थ्य यही सबका ध्येय हो बाकी बेकार की बातों में न उलझें तो बीमार

को अपनी बीमारी सहन करने में आसानी होगी ।

मानसिक स्वस्थता

शरीर स्वस्थ बना रहे तभी दीर्घायु का सुख है, लाभ है । शरीर निरोगी होगा तो चित्त भी प्रसन्न रहेगा । रोती सूरत किसी को नहीं सुहाती । प्रसन्नता सबको खींचकर नज़दीक ले आती है । निराशा से समग्र उर्मि तंत्र बधिर हो जाता है - प्रसन्नता से पूरा वातावरण सजीव चैतन्यमय हो जाता है । शारीरिक स्वास्थ्य के साथ आंतरिक प्रसन्नता अत्यावश्यक है । मन से स्वस्थ मनुष्य कठिन परिस्थितियों में से रास्ता खोज लेता है । भीतर से आनंद के झरने फूटें तो जीवन में कुछ भी कठिन नहीं । सौराष्ट्र की एक संत कवयित्री गंगासती का गीत है-

मेरू डिगें तो भले डिगें

किंतु न डिगें जिनके मन

चाहे ब्रह्ममांड क्यों न टूटे- ।

सारा संसार डोलने लगे, कांपने लगे किंतु हमारा मन अपनी जगह स्थिर रहे - निष्कंप रहे । आंतरिक समृध्धि का सबसे बड़ा लक्षण है - मन की स्थिरता । अगर छोटी छोटी बात में हम परेशान हो जायें, दुखी हो जायें तो कैसे चलेगा ? यह तो बचकानी बात होगी । आर०डी० हिचकाक नामक एक विदेशी लेखक का कहना है- 'सफलता का राज़ आत्म संयम है- स्वयं पर स्वयं का नियंत्रण । जब हम स्वयं संयम रखेंगे तभी हम शिक्षित हैं वरना सारी शिक्षा बेकार है । इसलिए मुख्य बात यही है कि अपनी वृत्तियों, मन, बुध्धि, चित हमारे अपने अंकुश में हों । हमारी प्रज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करें तो हमारा अंतर्बाह्मय जीवन सफल-सुंदर होगा ।

प्रसिध्ध अमरिकन लेखक डा० नार्मन काजिन्स ने अपनी पुस्तक जीने के चान्स पांच सौ और एक' में मनुष्य के स्वास्थ्य के बारे में पते

की बात कही है । वे कहते है- 'जीवन एक उत्सव है । उसे योग्य ढंग से जीकर सार्थक करना चाहिए । इसके लिए सबसे जरूरी है तनाव से मुक्ति ।' जीवन में मुक्त खिलखिलाते हास्य का बड़ा महत्व है । विनोबाजी ने जीवन में मुक्त हास्य को ऊंचा स्थान दिया हे । अंतिम दिनों में तो वे इस कदर खिलखिलाकर हंसते थे कि आंखों की किनारी भीग जाती थी । वे कहते अब 'विनोबा' विनोदानंद बन गया है ।

उन्होंने एक सूत्र में मार्गदर्शन भी किया है-

एक गुना खाना

दुगुना पीना

तिगुना काम करना

चार गुना हंसना ।

खाने से दुगुना पीना, तिगुना काम और चौगुना-अनंत गुना हंसना-जो हंसता रहता है उसका घर ही नहीं-जीवन भी बसता है ।

कबीर महाराज का भजन है- 'सडसठ तीरथ घर के भीतर - । गुजराती कवि असो का भजन है-

तन तीरथ तू आतमदेव

सदा सनातन जानो मंत्र ।

हमारा देह न भगवान है न तुच्छ घृणायोग्य वस्तु - यह तो एक तीर्थधाम है - इसके भीतर छिपे आतमदेव को पहचानना है । देह में छिपे तीर्थ को प्रकट करना हे । इस देह से संसार के स्थूल तीर्थधामों की यात्रा हो सके तो सोने में सुहागा किंतु अगर किसी कारण वश वह संभव न हो तो अफसोस करने की जरूरत नहीं । तीर्थयात्रा का उद्देश्य है चित्तशुद्धि-

हरिस्मरण । फिर 'मन चंगा तो कठोति में गंगा ।' हमारा शरीर ही तीर्थ-स्वरूप है और हमारी आत्मा इस मंदिर का देव ।

चित्त शुद्ध रहेगा, निर्मल रहेगा तभी प्रसन्नता की सरिता बहेगी । कूड़ा-करकट कीचड़ भरा हो तो वहां पानी बहेगा कैसे ? प्रसन्नता का झरना तो अंदर से फूटे - चित्त की निर्मलता गंगाजल की तरह बहे । बाहर की हंसी से कुछ न होगा - अंदर जब निरुपाधिक होंगे तभी तो सच्ची हंसी फूटेगी । स्वाभाव की कटुता मिटा दें, राग द्वेष, वैर-भाव से स्वयं को मुक्त करें - स्वभाव में खुलापन, सरलता होगी तभी चित्त प्रसन्न रह सकेगा ।

कभी न भूलें कि यह देह आतमदेव का देवस्थान है । इस मंदिर में स्वच्छता और पवित्रता हो । शरीर के सौंदर्य को छोड़िए-सुघड़ता और स्वस्थता महत्व की है । उत्तम आरोग्य ही सबसे बड़ी संपदा है । वही पहला और अंतिम सुख है । संयम से ही इसकी प्राप्त हो सकती है । जीवन में संतुलन और समत्व की स्थापना हो । रहन-सहन का समत्व, इंद्रियों का समत्व, चित्त का समत्व । समग्र जीवन का समत्व सिद्ध होगा तो परम साम्य की - जीव और शिव के साम्य की प्राप्ति भी होगी ।

संबंधों का सौंदर्य रहस्य

मानव-बीज का गर्भाधान होते ही वह संबंधों की श्रृंखला से जुड़ जाता है । नितांत संबंध-रहित जीवन संभव नहीं । मनुष्य-जीवन के अनेक संबंधों से व्यापक होता है । जीवन अर्थात् संबंधों का जोड़ संबंधों का उपहास या अवहेलना तो बचकानी बात है । संबंध तो शायद पानी की तरह गंध और रंग से मुक्त हैं, उनका सुंगधित या असुगंधित होना हम पर निर्भर करता है । संबंधों में जितना सौंदर्य और माधुर्य हम भरेंगे, हमारा जीवन उतना ही आनंदमय होगा । मानव जीवन के खिलने का आधार उसके संबंधों पर निर्भर है । संबंधों के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण हमारी अटपटी जीवन यात्रा का पाथेय हैं । संबंधों की बारीकी को समझलें, उनके साथ जुड़े हुए तत्वों को समझ लें तो वे हमारे जीवन की समृद्धि को बढ़ायेंगे।

मानव जीवन में चार अनुबंध अनिवार्य हैं । पहला अपने परिवार से । दूसरा समाज से, तीसरा सृष्टि के साथ और अंतिम संबंध ईश्वर के साथ । इन सब संबंधों को मिलाकर ही मनुष्य जीवन परिपूर्ण होता है ।

संबंध का शास्त्र

संबंध यदि अनिवार्य हैं तो जीवन से जुड़ने वाले सारे नाते-रिश्तों को जांच लेना, उन्हें कस लेना और समझ लेना जरूरी है । संबंध का असली रहस्य, जिनमें संबध हैं उन सबके लिए पूरक होने में, सबको सम्पन्न, समृद्ध और सुखी बनाने में हैं । जिन संबंधों में परस्पर सही आदान-प्रदान होता है, परस्पर प्राप्ति और पूर्ति निरंतर होती रहती है, वे ही संबंध पनपकर वटवृक्ष से विकसित होते हैं ।

बीच-बीच में हमें अपने संबंधों का मुआयना कर लेना चाहिए और कोई भी संबंध चाहे कितना ही नजदीकी हो उसके प्रति जागृत रहना चाहिए । पति-पत्नी, माता-पिता और संतान, मित्र, पड़ोसी सभी संबंधों पर काल का कुछ असर होता ही रहता है । कभी अतिपरिचयात अवज्ञो वाली Taken for granted वाली परिस्थिति भी पैदा हो जाती है ये दोनों ही परिस्थितियां संबंधों के विकास में बाधक हैं । इसलिए स्वयं अपना और अपने संबंधों का निरीक्षण करते रहना अच्छा है । हमेशा जागृत रहें कि कहीं संतुलन तो नहीं बिगड़ रहा या हम स्वार्थी तो नहीं हो गये ? संबंधों में One way trafic भी नहीं चलता । वृद्धावस्था में खास सावधानी बरतनी होगी । हमारे संबंधों को नये सिरे से देखना होगा, खासकर अपने संतानों के साथ के संबंध । क्योंकि अब तो भूमिका ही पलट गयी है । अभी तक हम संतानों को संभाल रहे थे अब उन्हें हमें संभालना है । इसमें कोई किसी का आश्रित नहीं है । बल्कि अब संबंध समान धरातल पर हैं, परिस्थिति में परिवर्तन हुआ है ।

सुप्रसिद्ध ग्रीक चिंतक सोक्रेटिस हमेशा लोगों के बीच घूमा करते । लोक संपर्क की कला में वे माहिर थे । एक दिन नगर में घूमते घूमते

एक वृद्ध से मुलाकात हुई, आदतन बातें शुरू कीं और उन वृद्ध के पूर्व जीवन के बारे में जानकारी हासिल की । पूरी बात सुनकर सोक्रेटिस ने उनसे पूछा, 'आपका आजतक का दीर्घजीवन तो सफल और सार्थक सिद्ध हुआ दिखता है । लेकिन अब वृद्धावस्था में क्या हाल है ?' वृद्ध सज्जन ने जवाब दिया, 'देखिए, पूरी जिंदगी मेहनत करके जो कुछ धन और नाम कमाया, वह सारा संतानों को सौंप दिया है । अब बच्चे जहां बैठाते हैं - बैठता हूं, जो खिलाते हैं- खाता हूं और उनके बच्चों को खिलाता हूं । उनके काम में अड़ंगा नहीं डालता । उनकी गलती भी हो तो में चुप रहता हूं, जब वे सलाह पूछते हैं तभी सलाह देता हूं - अपनी जिंदगी के अनुभव सुनाता हूं । किंतु इसके बाद उन्होंने मेरी सलाह मानी या नहीं मानी इसकी फिक्र नहीं करता, कोई आग्रह भी नहीं करता । वे अपनी गलती दोहरायें तब भी टोकता नहीं- फिर से सलाह मांगे तो अपनी सलाह दोहराने से थकता नहीं ।'

वृद्ध की बातें सुनकर सोक्रेटिस खुश होकर बोले, 'बुढ़ापे में कैसे जीना इसकी कला आपको सध गई है, आपको धन्यवाद ।

अनुकूलता सीखें

बुढ़ापे में जिनके भी साथ जीने का मौका आये उनके अनुकूल होकर जीने की वृत्ति होनी चाहिए । आज तक बच्चों ने या छोटों ने हमारी मर्जी-नामर्जी का ध्यान रखा है अब हमें उनके अनुकूल होना है । अब सुबह यदि बेटा हमसे पहले अखबार पढ़ले तो इसे हम अपना अपमान क्यों समझें ? उसे आफिस जाने की जल्दी है इसका हम ध्यान रखें । पुत्र-वधू यदि नौकरी करती है, उसे सुबह आठ बजे आफिस जाना है तो वह घर की, बाहर की दोनों जिम्मेदारियां कैसे संभाल सकती है ? ऐसी अपेक्षा रखना तो क्रूरता होगी न ? रोजमर्रा के जीवन की बातें वैसे तो बड़ी छोटी-छोटी होती हैं लेकिन वे ही बड़ा स्वरूप धारण कर लेती हैं और घर को युद्ध का मैदान बना देती हैं ।

सह-जीवन की आचार संहिता

आपसी संबंधों की एक आचार संहिता बनाकर उसका पालन करें तो सह जीवन का माधुर्य बना रहेगा ।

हम वयोवृद्ध, अनुभव वृद्ध या ज्ञानवृद्ध हैं मात्र इस कारण से अपने आदर्श, विचार या आचार का आग्रह किसी पर भी, कभी, तनिक भी लादने का अधिकार हमें प्राप्त नहीं होता । भगवान ने सबको सद्‌बुद्धि दी है, प्रेरणा देने के लिए वह एक ही काफी है । हम कभी स्वजनों को इशारा कर दें बाकी प्रत्यक्ष परोक्ष दबाव तो हिंसा का ही रूप है ।

किसी के भी सभी सपने या सारे आदर्श कभी सिद्ध नहीं होते - कुछ तो अधूरे रहेंगे ही । लेकिन केवल इस कारण से हमें यह हक नहीं मिल जाता कि हम अपने सपने पूरा करने का बोझ दूसरों पर डालें । जो इस धरती पर जन्म लेगा उसके अपने खुद के सपने होंगे, वह अपनी स्वप्न-सिद्धि की सोचेगा । हम उसके ध्येय में सहायक हो सकें तो अच्छा है । वरना अपने कार्य का बोझ उस पर जबरन न डालें । पुराण में राजा ययाति की कथा आती है । बूढ़े होने पर उसकी वासनाएं अतृप्त रहीं इसलिए उसने पुत्रों का यौवन मांगा फिर भी उसकी वासना कभी खत्म न हुई । क्योंकि ययाति की भोगवासना दुर्वासना ही थी । हमारी सद्‌वासना भी हो तब भी उसके लिए किसी का, चाहे अपने पुत्र के ही आयुष्य का टुकड़ा मांगना ययाति-वृत्ति ही कहलायेगी । हमें इससे दूर रहना चाहिए ।

वृद्धावस्था अनुभवों का भंडार जरुर है लेकिन इस भंडार के रत्नों को जहा-तहां बिखेरना ठीक नहीं । ऐसी हालत में ये अमूल्य रत्न किरकिरी बन जाते हैं । बिन मांगी सलाह से, उपदेश देने से स्वयं को बचाना चाहिए । सोलह की उम्र के बाद पुत्र भी मित्रवत् है और मित्र के साथ संवाद होता है, भाषण नहीं । यह स्वाभाविक है कि बूढ़े व्यक्ति को अपने पुराने अनुभव सुनाने में बड़ा सुख मिलता है किंतु सुनने वाले का भी तो

ध्यान रखना होगा । किसी सज्जन ने कहा था कि जब वे बूढ़े हो जायें, और अपनी डींग हांकने लगें तो उन पर गोली दाग दें । खैर दूसरों के हाथ में पिस्तौल देने के बदले स्वयं सावधान रहें यह जरूरी है ।

अगर कोई व्यक्ति आपके सामने दिल खोलना चाहे तो उसे वैसा मौका जरूर दें । लेकिन अगर किसी की वैसी इच्छा न हो तो जबर्दस्ती उसके दिल का हाल जानने की कोशिश नहीं करनी चाहिए । हर व्यक्ति को अपने एकांतों पर अधिकार है, उन पर हम क्यों आक्रमण करें ? पुष्प जैसे स्वयं खिलता है वैसे ही व्यक्ति को स्वयं प्रस्फुटित होने दें - किसी को वाध्य न करें । एकांत जिसे अंग्रेजी में 'प्रायवसी' कहते हैं वह हर एक की नितांत निजी जरूरत है उसमें किसी का दखल करना ठीक नहीं । किसी पर्दे को जबर्दस्ती हटाना ठीक नहीं बल्कि पर्दा कभी गलती से हटने लगे तो हमें वहां से हट जाना चाहिए । दूसरों के जीवन में अकारण तांक-झांक करने की आदत के कभी बड़े घातक परिणाम हो सकते हैं । हम दूसरे का अंतः स्थल खोदने के लिए क्यों परेशान हैं ? उसके बदले अपने भीतर ही जो गहरा समुद्र भरा है उसी में मोती खोजें तो कैसा रहे ?

मनुष्य जीवन में सबसे अधिक दुखदायी होती है उसकी अपेक्षाएं । हमारे दुःख का मूल है हमारी दूसरों से की गयी अपेक्षाएं । जहां संबंध है वहां अपेक्षा होना स्वाभाविक है लेकिन अपेक्षा भंग होना भी उतना ही स्वाभाविक है । अपेक्षा पूरी होती है तो सुख मिलता है वरना दुःख होता है । अगर दुःख की जड़ काटनी हो तो आपसी संबंधों में अपेक्षाओं को जितना हो सके कम करना होगा । अपेक्षाओं को निर्मूल करना तो मानव के लिए शायद संभव न हो लेकिन उन्हें न्यूनतम करने की आदत डालनी होगी । प्रेम का कोई प्रयोजन न हो - केवल प्रेम-निरपेक्ष प्रेम हो । हृदय को प्रेम से सराबोर कर दें, प्रेस से भर दें इसी में प्रेम की सार्थकता है । निःस्वार्थ प्रेम का हमें अनुभव करना है । संतों का प्रेम इसी कोटि का होता है - यही उनकी सम्पन्नता का राज़ है । उनका समूचा व्यक्तित्व प्रेममय होता है । उनके लिए प्रेम का और कोई अन्य प्रयोजन नहीं होता । उनकी

नजर में सब भगवान हैं और सबको प्रेम करना यही उनकी भक्ति है । अपने हृदय में भी ऐसा निरपेक्ष प्रेम प्रकट करें । सांप जैसे अपनी केंचुली उतारकर फेंक देता है और स्वयं मुक्त हो जाता है उसी भांति हमें अपनी आकांक्षाएं, अपेक्षाएं समझबूझकर फेंक देनी चाहिए । फिर हमें किसी तरह का दुःख न होगा । बस, ऐसी समझ हम हासिल कर लें तो जीवन में कांटों की जगह फूल खिल जायेंगे ।

हमें किसी का भी न्यायाधीश नहीं बनना है । भगवान ईसा मसीह ने कहा है - Let us not judge each other, but love one another." हम एक दूसरे के परीक्षक न बनें, एक दूसरे से प्यार करें । इस संसार में हम न्यायाधीश बनने की गुस्ताखी क्यों करें ? हम सबका न्यायाधीश तो ऊपर बैठा ही है । उसका काम वह कर रहा है, हम अनधिकार चेष्टा क्यों करें ।

हम किसी की निंदा न करें । भक्त कवि नरसिंह मेहता ने भक्त के लक्षण गिनाये हैं - वे कहते हैं - 'निंदा न करे केनी रे ।' मनुष्य की यह बड़ी कमजोरी है कि उसे दूसरों में दोष ही दोष दिखाई देते हैं । जिव्हा को भी निंदा रस बड़ा प्रिय होता है । परिवार में, संस्थाओं में, समाज में झगड़ों का मूल कारण अक्सर यह निंदावृत्ति होती है । एक दूसरे की टीका-टिप्पणी लड़ाई का कारण बन जाती है । बाल सफेद हो गये, आंखें कमजोर हो गई, हाथ पावों में दम नहीं फिर भी इस जिह्वा का जोर कम नहीं होता । बुढ़ापे में वैसे भी फुर्सत है, कोई काम नहीं इसलिए निंदारस समय बिताने का साधन बन जाता है । इस जीभ पर काबू रखना बड़ा कठिन है । हम कभी किसी की निंदा नहीं करेंगे ऐसा दृढ़ संकल्प करना होगा । ऊपर से मीठा लगने वाला यह निंदारस कितना भयानक और आत्मघाती है इस बात को हर घड़ी याद रखेंगे तभी इससे छुटकारा पा सकेंगे । इसलिए अनिंदा को विनोबाजी ने एकादशव्रत के साथ जोड़ कर 'बारहवां व्रत' कहा है । इस व्रत का अखंड पालन होगा तभी इस रसना से सच्चा रस झरेगा । हर समय यही दोहरायें -

तुम बोलो मेरी रसना, हरि रे हरि ।

हरि रे हरि । सत्य स्वरूपा हरि । ।

घर में हमारी रहन-सहन ऐसी हो जिससे अन्य लोगों को तकलीफ न हो । हमारी प्रार्थना, पूजा, स्तवन हमारे लिए अत्यंत पवित्र और आवश्यक है लेकिन अन्य लोगों के विचार भिन्न भी होंगे । हमारी अच्छी बातें भी निज तक सीमित हों । उनसे दूसरों को कष्ट नहीं हो इसका ध्यान रखें । बूढ़े लोगों को नींद कम आती है- 'भोर में ४-५ बजे जग जाते हैं और जोर जोर से हरिस्मरण या भजन गाने लगते हैं । अपने लिए यह आदत अच्छी है लेकिन घर के अन्य लोगों की नींद में खलल न पड़े इसका तो ध्यान रखना ही होगा । मौन प्रार्थना कर सकते हैं, या ऐसी जगह ढूंढ़ सकते हैं जहां से और कहीं आवाज न जाये - या अपनी आवाज एकदम धीमी रख सकते हैं । भगवान के कान बड़े तेज हैं वह तो पारिजात जैसे नाजुक पुष्प की डाली से झरने की आवाज भी सुन लेता है । हमारी मौन प्रार्थना का स्वर तो उसको अधिक ही सुनाई देगा ।

परिवार के छोटे बच्चों की परवरिश के बारे में हमें अपना आग्रह नहीं रखना चाहिए । कभी कुछ सुझाव दे दिया वह बात अलग है लेकिन किसी तरह का आग्रह न हो । दादा-दादी हो गये इसलिए अधिकार चलाने की जरुरत नहीं । मूलधन से ब्याज प्यारा है तो प्यार करें, बच्चों को गलत लाड-दुलार से बिगाड़ें नहीं । बड़ों का प्यार बच्चों के लिए स्वच्छंदता का कारण न बने । बच्चों के स्वस्थ विकास में लाड़-प्यार का सबसे अधिक महत्व है किंतु उसकी भी सीमा जरूरी है । हम तो परिवार में 'संकट समय की सांकरी' बनकर रहें । बच्चों की जरूरत में हमेशा हाजिर, वरना शब्द कोश की तरह अलमारी में विराजे हुए । कोई हमें पूछे तो योग्य बात कहें वरना मौन रहें ऐसी निःस्पृह वृत्ति रखें ।

हम बूढ़ें हो गये हैं इसे दूसरों से छोटे काम करने का बहाना न बनायें । किसी पर भी, पत्नी पर भी बोझ क्यों बनें । हम बुजुर्ग हैं इसलिए

हमारी सेवा सब को करनी चाहिए ऐसा मानना ठीक नहीं । आसान काम तो हम अभी भी कर सकते है न । अपना बिस्तर लगाना, अपना कमरा साफ रखना, पानी, दूध, नाश्ता स्वयं ले लेना, अपने कपड़े ठिकाने रखना, उन्हें तहाना, अपनी मेज-किताबें अखबार आदि व्यवस्थित रखना, ऐसे कई काम बुढ़ापे में स्वयं किये जा सकते हैं । घर के पास पड़ोस के बच्चों को कहानियां सुनाना, गीत-श्लोक जबानी याद करवाना, आसपास से घर का छोटा-मोटा सामान या सब्जी लाना ऐसे अनेक कामों में हाथ बटायेंगे तो घर वालों को न हमारा बोझ लगेगा न हमें अपनी जिंदगी का बोझ महसूस होगा ।

समर्थों का परस्परावलंबन

बुढ़ापे में ये सब तभी हो सकेगा जब पहले से हमने अच्छी आदतें बनायी हों । वरना बुढ़ापे में अचानक अफसर साहब को सब्जी का थैला हाथ में पकड़ने में बड़ी झुंझलाहट होगी । बुढ़ापे में विधुर पुरूषों की दशा तो और भी दयनीय हो जाती है । अब तक तो पत्नी ही सब करती थी किंतु अब ? अब तो अपने हाथों पानी लेने में भी आंसू निकल आते हैं । एक सत्तर वर्ष के विधुर बाबाजी को एक बार अपने हाथों कमीज में बटन टांकने की बारी आयी तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ । घंटों किताबें पढ़ते थे तो कोई दुःख नहीं था लेकिन सुई हाथ में लेनी पड़ी तो अपमान और पराधीनता महसूस हुई । यह पराधीनता मन की थी वरना इतनी नन्हीं सी सुई इतने बड़े दादाजी को क्यों रुलाती ? जीवन के छोटे-छोटे जरूरी काम करने से कोई छोटा नहीं हो जाता । स्वयं काम करने की आदत शुरू से होनी चाहिए । परस्परावलंबन और परावलंबन में बहुत फर्क है । एक में समृद्धि है तो दूसरे में पंगुता । हमारा सह जीवन समर्थों का हो - असमर्थों का नहीं ।

पारिवारिक संबंधों की आचार - संहिता का यदि पालन करेंगे तो आपसी संबंधों की सुगंध समाज को सुगंधित करेगी । खून के रिश्ते मात्र

स्वार्थ की सगाई न रहकर - अनासक्त प्रेम भी सगाई बन जाये तो सबका जीवन प्रेममय, आनंदमय होगा ।

संबंधों का विस्तार

पारिवारिक संबंधों के अलावा, अपने पड़ोसी से, पूरे समाज से भी हम जुड़े होते हैं । यह मनुष्य जीवन तो बहते हुए झरने की तरह है जो बहता है, बढ़ता है, फैलता है । प्रेम यदि परिवार में बंदी रहेगा तो प्रेम सरिता बहेगी नहीं, उसका जल एक जगह रुक जाने से सड़ने लगेगा । पानी का धर्म और उसकी सार्थकता बहने में है वैसा ही प्रेम का है । इतनी उम्र तक हमें अनेकों की सहायता मिली, समाज की मदद से हमने इतना विकास किया है तो अब इस ऋण को अदा करने का मौका आया है ऐसा मानकर समाज की भलाई का कोई काम करें । कम से कम सबसे प्रेम तो करें । सामाजिक समस्याओं को हल करने में, आपसी कटुताओं को मिटाने में हम यथा शक्ति योगदान दें ।

सृष्टि के साथ अनुसंधान

हमारा जीवन मनुष्यों के अलावा पूरी सृष्टि से जुड़ा है । पशु, पक्षी, वनस्पति, चराचर समग्र सृष्टि के हम एक अंग हैं- और हम उन सबसे जुड़े हैं । पुराण कथाओं में ऐसे दृष्टांत मिलते हैं जिनमे कोई मनुष्य किसी प्राणी या वृक्ष का अभिन्न अंग बन गया हो । राजा दिलीप और नंदिनी गाय की कथा कौन नहीं जानता । जड़ भरत और उसका हिरन, भगवान कृष्ण और उनकी गौ मैया । भारतीय संस्कृति का यह एक प्रमुख लक्षण है कि यहां मानव और पशु का संबंध परस्पर-पूरक माना गया है । इसलिए तो अभी भी गांवों में, किसानों के घरों में पशुओं को परिवार का सदस्य माना जाता है । हमारे ऐसे व्यापक दृष्टिकोण से ही हमारी मानवता महकेगी ।

एक बार आसाम में विनोबाजी की पद यात्रा में एक विदेशी युवक

शामिल हुआ । गांव के प्रवेश द्वार पर विनोबाजी का स्वागत हुआ । तिलक और पुष्पहार के बाद गांव वालों ने चावल के कुछ दाने हवा में उड़ाये । पड़ाव पर पहुंचकर उस युवक ने बाबा से प्रश्न किया- 'बाबा, आपका देश तो बहुत गरीब है, लोग भूखे मरते हैं ऐसी हालत में अनाज की ऐसी बरबादी ?' बाबा ने उत्तर दिया, 'भाई यह अन्न की बरबादी नही है, यह हमारा भारतीय समाजवाद है । हमारे समाज में सिर्फ मनुष्यों की ही नहीं पशु-पक्षियों की भी चिंता की जाती है । यहां के लोगों के मन में आया आज संत के स्वागत में पूरा गांव सहयोग करेगा तब ये पक्षी ही क्यों उससे वंचित रह जांय । ये चावल के दाने व्यर्थ नहीं जायेंगे पक्षी उन्हें चुन लेंगे और गांव के आतिथ्य में, उनकी खुशी में वे शामिल हो जायेंगे ।'

पहले गांव के मध्य में एक चबूतरा होता था । गांव में चाहे अस्पताल न हो चबूतरा अवश्य होता । वह हमारे समाजवाद का एक प्रतीक है । हमारे आंगन में बंधी गाय, चौराहे का चबूतरा अब किसलिए ? यह हमारे पुराण पुरूषों की दीर्घदृष्टि का परिणाम हैं - ये सब पारस्परिक संबंधों की समृद्धि के प्रतीक है ।

कई भित्तिचित्रों में ध्यानमग्न ऋषि के चरणों में गाय और सिंह को, या नदी में मगर और मछलियों को साथ-साथ दिखाते हैं । पेड़ पर पंक्षी, बंदर सब होते है ऐसे सब चित्र यही दर्शाते हैं कि जीवन में ऋषित्व तभी प्रकट होता है जब समग्र जीव सृष्टि से एकरूप हो जांय ।

फल-फुल, पेड़, पहाड़, नदी सबके साथ भी मनुष्य का संबंध इतना ही गहरा है । हम इस सृष्टि के ही अंश हैं इसलिए इसके नज़दीक रहकर ही हम समृद्ध हो सकते हैं । हमारे आंगन का आम्रवृक्ष, पीपल या बड़, तुलसी का वृक्ष या और कोई भी वृक्ष हमारे सुख दुःख का साथी होता है बस, हमें उनसे दोस्ती करनी आनी चाहिए । विज्ञान ने भी साबित कर दिया है कि वनस्पति में भी संवेदनशीलता, अनुकूलता-प्रतिकूलता और आघात-प्रत्याघात की अनुभूति होती है । उसमें प्रकट-अप्रकट चैतन्य तक

हमें पहुंचना है । इन सबके बिना हमारा जीवन अधूरा रह जायेगा । रामायण में आया है कि लंका विजय के बाद अयोध्या लौटते हुए सीताजी रामजी से कहती हैं 'जरा रूकिये, पंचवटी में मेरे हाथों रोपे हुए पौधों से भेंट कर लूं-' सीता के तिनके में इतनी शक्ति कहां से आयी कि रावण जैसा दुर्घष योद्धा उसे लांघ न सका ? सीता का यह वनस्पति प्रेम उनके साथ स्वजन की तरह एकरूप होने की शक्ति ने ही संकट में उनकी रक्षा की होगी ।

शकुन्तला की कहानी भी ऐसी ही है । ससुराल जाती हुई शकुंतला का आंचल उसके हाथों लगाई हुई लता और उसका हिरण शिशु खींच रहा है - उसे जाने से रोक रहा है- ऐसे असंख्य उदाहरण सर्वत्र भरे पड़े हैं । हम भी खूब जानते तो हैं किंतु जीवन में आचरण नहीं कर पाये । न सूर्योदय देखने का उत्साह है न सूर्यास्त देखने की फुर्सत । समुद्र के किनारे, नदी के तट पर या बहते झरने के पास कभी शांति से बैठकर तो देखें । रात के अंधेरे में आकाश में खिले ये असंख्य फूल यदि देख सकें तो मन प्रफुल्लित हो जाता है । मन जब बहुत परेशान हो, उद्विगन हो तब प्रकृति के सान्निध्य में बड़ी शांति मिलती है ।

यह बड़े अफसोस की बात है कि हम अपनी भारतीय संस्कृति को भूलकर अंग्रेज बनने के चक्कर में पड़ गये । हमने उनकी असली असली बातें तो ग्रहण नहीं की किंतु बाहरी नकल में लग गये - हमने उनके सूट-बूट, कोट-टाई तो देखे लेकिन वे लोग मौका मिलते ही कैसे प्रकृति की गोद में पहुंच जाते हैं यह हमने नहीं देखा । वे घंटों पानी में तैरते हैं, बगीचे में काम करते हैं, खुली हवा में धूप सेकते हैं - तब प्रकृति और शरीर के बीच कपड़ों का व्यवधान तक उन्हें नहीं सुहाता ।

हम धरती की संतान, धरती से नाता तोड़कर कैसे चलेगा । पांवों में मिट्टी के स्पर्श के बगैर ताकत कैसे आयेगी ? धरती के तत्वों की पूर्ति कोई भी नकली रसायन नहीं कर सकते । यह देह तो पृथ्वी तत्व है ।

इसे धरती का संग चाहिए । सूर्य किरणों के बगैर यह शरीर तेजस्वी कैसे होगा ? बुद्धि कैसे खिलेगी । इसलिए जिन पंच महाभूतों का यह शरीर है, उनसे नित्य संबंध बनाये रखना हमारा आरोग्य धर्म है ।

अंतिम अनुसंधान परमात्मा से

हमारा प्रथम - मध्य- अंतिम सारा संबंध तो आखिर परमात्मा से है । हमारा प्रभु के साथ संबंध दृढ़ होगा तो बाकी के सारे संबंध भी प्राणवान होंगे । परमात्मा से हमारी सगाई सबसे ऊंची सगाई है । इस सगाई का साक्षात्कार इसी देह में, इसी जन्म में करना है ।

यदि प्रभु को हृदय में विराजित करना है, उसके आसन के लिए वहां जगह रखनी होगी । सांसारिक पचड़ों की भीड़ में प्रभु कहां बैठेंगे ? भौतिक वस्तुओं में मन रमा रहेगा तो प्रभु प्रीति का अवकाश कहां रहेगा । एक अंग्रेजी कहावत है - The less you have, the more you are - आपके पास जितना कम आप उतने ही अधिक होंगे - बाह्मय आडंबर जितना कम, आप उतने ही अधिक सम्पन्न होंगे - प्रभु के करीब होंगे । सत्वशीलता तभी खिलेगी जब बाहर का आडंबर कम होगा । परमात्मा की प्राप्ति आसान तो नहीं । वह तो महा-यज्ञ है, जिसमें स्थूल-आसिक्त की आहुति देनी होगी ।

वैसे हमें मात्र स्थूल वस्तुएं ही नहीं बांधतीं । सोना-चांदी, धन-संपति, मकान-जायदाद के अलावा कीर्ति -प्रतिष्ठा की महत्वाकांक्षा, सत्ता की लालसा, आधिपत्य की वृत्ति हमें और अधिक बांधती है । कहा गया है कि-

कंचन तजना सहज है, सहज पिया का नेह ।

मान, बडाई, ईर्षा, दुर्लभ तजना येह । ।

हमें बड़ा आदमी बनना है । बड़ा ओहदा चाहिए क्योंकि सत्ता हासिल करनी है । बाकी के कारण तो बहाने हैं । किंतु जीवन में जब तक यह मोह नहीं छूटेगा प्रभु प्रकट नहीं होंगे । हमारे अध्यात्म ग्रंथों में बड़ा अर्थपूर्ण शब्द दिया गया है - भवरोग - मैं समझ न पाती थी कि इतने सुंदर मानव जीवन को संत भवरोग क्यों कहते हैं । कितु जब रहस्य खुला तो जाना कि हमारी यह कुछ बनने की जो चाह है, कुछ पाने की चाह है, वही है भवरोग । भू-भव अर्थात् बनना । सारा जीवन कुछ बनने में बीत जाता है । 'प्रभु स्मरण का समय नहीं रहता । अब जीवन संध्या में तो इस बनने' के चक्कर से छूटें । प्रसिद्ध तत्वचिंतक जे० कृष्णामूर्ति ने इस बात को सरल शब्दों में समझाया है - To become और To be का भेद बताते हुए उन्होंने कहा है कि अध्यात्म To become में नहीं बल्कि To be में है ।

संत कबीर ने एक भजन के आरंभ में कहा है - 'कबीरा, रोड़ा बन जाना आगे और भी लंबी फेहरिस्त है - अंत में कहा - कबीरा, कुछ ना हो जाना ।' हमें कुछ भी नहीं होना है यह है कबीर - संदेशा । हम मात्र हों, बस । जब हमने जन्म लिया तब न हमारा कोई नाम था न हमारी विविध भूमिकाएं थीं, हम केवल थे । उसी केवल अवस्था में हमें स्वयं को स्थिर करना है । परम चेतना के साथ हमारी अपनी आत्म चेतना का अनुसंधान करना है । यही है आध्यात्मिक साधना । ईश्वर के साथ यदि हमारा, अंखड अनुसंधान बना रहेगा तो हमारे जीवन में, छोटे-मोटे सभी व्यवहारों में, हमारे प्रत्येक संबंध में, हमारे तमाम कार्यों में, प्रभुता प्रकट होगी, और हम चैतन्य रहेंगे ।

यदि हम अपना सही निरीक्षण करेंगे तो देखेंगे कि हमारा ईश्वर के साथ का संबंध भी सांसारिक है, सौदेबाजी का है । हम ईश्वर से हर समय कुछ न कुछ मांगते ही रहते हैं । - मुझे अच्छी नौकरी मिल जाय, मेरा बेटा पास हो जाय, मेरी बेटी स्वस्थ हो जाय - तो मैं पांच सौ गायत्री मंत्र जपूंगा - पूजा करूंगा - दर्शन करूंगा आदि । ऐसा यह नाम-स्मरण या

ऐसी पूजा आध्यात्मिक साधन नहीं हैं । मानवीय विकास यात्रा में ये सब कदाचित ऊपर चढ़ने के सोपान हो सकते हैं, सात्विकता की ओर हमें उन्मुख कर सकते हैं, किंतु आध्यात्म अलग बात है । हम प्रभु को अपने संसार में लपेटें इसके बजाय हमारे संसार में प्रभु को प्रकट करें । हमारे भीतर की प्रच्छन्न प्रभुता को प्रकट करें । प्रभुमय हृदय में मेरे-तेरे का भेद मिट जाता है, संपूर्ण जगत के प्रति अपनत्व महसूस होता है ।

अध्यात्म की मुख्य कसौटी है - चित्त शुद्धि । चित्त में यदि मलिन भाव, मेरा-तेरा संकीर्ण भाव, राग-द्वेषादि कषाय, ईर्ष्यावृत्ति भरी पड़ी है, तरह-तरह की लालसा-वासना भरी है तो परमतत्व की पहचान कैसे होगी ? स्थूल वस्तुओं में लिपटा मन परम की ओर कैसे जायेगा ?

याज्ञवल्क्य -मैत्रीय संवाद प्रसिद्ध है । याज्ञवल्क्य ऋषि ने वानप्रस्थी होकर अरण्य में जाने से पहले अपनी सारी संपत्ति दोनों पत्नियों को बांट दी । कात्यानी ने अपना हिस्सा ले लिया किंतु मैत्रैयी ने उनसे प्रश्न किया- 'नाथ, जिस तत्व की प्राप्ति हेतु आप वन गमन कर रहे हैं, क्या उस तत्व की प्राप्ति इस संपत्ति से होगी ।' ऋषि ने उत्तर दिया - 'अरे, कैसी बातें करती हो मैत्रैयी । भला इन स्थूल नाशवान वस्तुओं के द्वारा कभी अविनाशी परमतत्व प्राप्त हो सकता है ? "तब तो मुझे भी यह सब नहीं चाहिए - कहकर, मैत्रेयी पति के साथ वन को चल पड़ी । प्रभु से अभिन्नता साधे वगैर प्रभु प्राप्ति संभव नहीं । जब प्रभु से नाता जुड़ गया तो न हम अकेलें रहेंगे, न हम स्वार्थी रहेंगे । प्रभुता प्रस्फुटित होगी विश्व प्रेम से, निरपेक्ष, निःस्वार्थ, निर्मल, विशुद्ध सार्वभौम प्रेम से । इसी प्रेम को मीराबाई ने 'सबसे ऊंची प्रेम सगाई . . ' कहा है ।

वृद्धाश्रम - अनिवार्य अनिष्ट

'इन बूढ़ी -निरूपयोगी, कमजोर गायों का क्या उपयोग ? व्यर्थ ही धरती का बोझ हैं, इन्हें तो कतलखाने ही भेज देना चाहिए । यह है माडर्न

मनुष्य का उपयोगितावादी मानस । मनुष्य की ऐसी मानसिकता को यदि पुष्टि मिलती रही तो शायद वह दिन भी दूर नहीं, जब बच्चों से प्रश्न किया जाय कि - 'तुम्हारे बूढ़े दादा-दादी का स्थान कहां । तब वे जवाब दें - 'क्यों न इन्हें एक इंजेक्शन लगाकर भगवान के घर भेज दिया जाय ? इनका हमें तो कोई उपयोग नहीं ।'

संस्कारी व्यक्ति तो वह माना जायगा, जो कभी स्वयं से पूछे - 'मेरा क्या उपयोग है इस संसार में ? लेकिन ऐसे सुसंस्कृत लोग दुनिया में कितने हैं ? हम तो मान बैठे हैं कि पूरी सृष्टि हमारे उपयोग के लिए बनी है । यह भोगवृत्ति ही मनुष्य को आज राक्षस बना रही है । एक बार मैंने ही विनोबाजी से प्रश्न किया था, 'बाबा, ये गाय-बकरी तो ठीक है, लेकिन इन सांप-बिच्छू का क्या उपयोग है ?' बाबा ने बड़ा अच्छा जवाब दिया, 'तुम्हारा यह प्रश्न तो ठीक है । किंतु क्या तुम जानती हो, आज जंगल में पशु-पक्षियों की एक चर्चा सभा हुई, जिसका विषय था - 'इस' मीरा' का हमें क्या उपयोग है ? बाबा के जबाव ने मेरी आंखें हमेशा के लिए खोल दीं ।

वृद्धाश्रम - नवयुग की बलिहारी

मानव बड़ा उपयोगितावादी हो गया है । हम अपना सारा जीवन उपयोगितावाद के परिप्रेक्ष्य में ही बिताते हैं और इसीलिए न चाहते हुए भी आज समाज में 'वृद्धाश्रम' जैसी संस्थाए खड़ी होने लगी हैं । मेरी समझ में वृद्धाश्रम की स्थापना हमारे लिए कोई भूषण नहीं किंतु समाज का दूषण है । जैसे गांव में अनाथाश्रम हो या त्यक्ताओं के लिए मातृभवन हो, तो वह समाज का स्वास्थ्य नहीं, बल्कि बीमारी का ही गहरा लक्षण माना जायेगा । वैसी ही बीमारी है यह वृद्धाश्रम । परन्तु क्या करें । नवयुग की इस भेंट को एक अनिवार्य अनिष्ट समझकर ग्रहण करना होगा और वृद्धाश्रमों की स्थापना होती रहेगी ।

वृद्धों से समाज समृद्ध

वृद्धों के उपयोग का नाप-तोल का प्रश्न ही नहीं खड़ा होना चाहिए । शास्त्रों में कहा है 'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः' - जहां वृद्ध नहीं उसे सभा नहीं कहते । हमारी राजधानी के लोक-सभा भवन की दीवार उपरोक्त वाक्य से सुशोभित है । वृद्धजन याने अनुभवों की खान, जीता - जागता जीवन कोष । मानव जीवन की उन्नति के लिए वृद्धों की उपस्थिति परम सौभाग्य की बात है । उनके प्रति समाज का रुख कैसा है, इस बात पर हमारी संस्कृति निर्भर है ।

आदिम समाज में पारिवारिकता के अभाव के कारण वृद्धों की परिस्थिति अलग रही होगी, किंतु ज्यों-ज्यों कृषि का विकास हुआ परिवार की भावना बढ़ती गयी । उसकी खूबी यही थी कि उसमें सभी उम्र वालों के लिए उपयुक्त काम थे । छोटे-बड़े सभी खेती के काम में उपयोगी होते हैं । वृद्धों का भी विशेष योगदान था, इसलिए संस्कृति के विकास के साथ 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव' की भावना दृढ़ होती गई ।

फिर आयी औद्योगिक क्रांति । जन संख्या तेजी से बढ़ती गयी और वृद्धों की समस्या जटिल बनती गयी । हमारे समाज में जब तक संयुक्त परिवार की पद्धति थी तब तक वृद्ध माता-पिता परिवार की छत्रछाया जैसे थे । किंतु पश्चिम के भौतिकवाद के प्रबल प्रभाव में व्यक्तिवाद और स्वकेंद्रिता बढ़ती जा रही है, जिसके कारण बुजुर्गो को संभालने की समस्या भी बढ़ रही है । इसीलिए अब वृद्धाश्रमों की जरूरत पड़ने लगी है । अभी समाज जिस दिशा में जा रहा है उसको देखते हुए यह व्यवस्था अनिवार्य नजर आती है । It has come to stay.

वृद्धाश्रम के अन्य विकल्प

जब कोई अनिष्ट अनिवार्य हो जाय, उसमें से इष्ट को ढूंढ़ लेना अच्छा है । इस दृष्टि से हमें वृद्धाश्रमों को सुंदर, उपयोगी और सह्य बनाना

होगा । वृद्धाश्रम के अन्य विकल्प भी सोचे जा सकते हैं । सबसे उत्तम तो यही है कि बुढ़ापा परिवार में ही प्रेमपूर्वक बीते । दूसरा विकल्प यह भी हो सकता है कि जैसे हम अनाथ बच्चों को दत्तक लेते हैं वैसे वृद्ध माँ-बाप, दादा-दादी को दत्तक लें और उन्हें अपने माता-पिता समझकर उनकी सेवा करें । या फिर कहीं आस पड़ोस के बच्चे और जवान किसी वृद्ध को सेवा का केंद्र बनाकर उन्हें समय दें, उनके छोटे-मोटे काम कर दें- दिन में एकाध घंटा उन्हें अच्छी पुस्तक पढ़कर सुनायें । उनकी खरीद फरोख्त के अलावा घर में उनकी रसोई इत्यादि में मदद करें - बीमार हों तो व्यक्तिगत सेवा के कुछ काम करें । बूढ़ों को ऐसे लोगों की जरूरत जो होती है । जो उनके पास बैठें, उनकी बातें सुनें- उनको 'कंपनी' दें । कभी उन्हें कोई भजन सुनायें, नये जमाने की विज्ञान की बातें करें- इस तरह पूरे समाज में वृद्ध सेवा की एक युवा-प्रवृत्ति शुरू कर सकते हैं । देखने में मामूली सी दीखने वाली ये छोटी बातें सब दूर यदि फैल जायें तो बहुत उपयोगी साबित हों सकती हैं ।

धर्मशाला या पशुशाला नहीं

वृद्धाश्रम बनें

वृद्धों के सामूहिक निवास को हम 'वृद्धाश्रम' नाम देते हैं । इसके पीछे हमारी भावना स्पष्ट है कि इसे हम आश्रम जीवन बनाना चाहते हैं । आश्रम कोई धर्मशाला या विश्रामगृह नहीं है जहां रात-दो रात बितानी हों । आश्रम जीवन का एक निश्चित प्रयोजन होता है, एक ध्येय होता है । इन वृद्धाश्रमों के सन्मुख भी एक सुनियोजित सद्‌हेतु होना चाहिए ।

सर्व साधारण प्रयोजन के बिना सामूहिकता टिक नहीं सकेगी । परिवार की सामूहिकता में ऋणानुबंध के कारण सब रक्त-संबंध से जुड़े हुए हैं और वंश आगे चलाने के हेतु से यौन-संबंध हैं - परिवार का एक निश्चित हेतु है । जिस विचार के आधार पर किसी संस्था की स्थापना होती है वहां उस विचार को आगे बढ़ाने का प्रयत्न होता है । समूह को साथ जीने के

लिए परस्पर प्रेम चाहिए और समान विचार तथा समान जीवन कार्य चाहिए । परस्पपर जोड़ने वाले सूत्र के अभाव में सामूहिकता हवा में ही रह जायेगी । वृद्धावस्था में कई बार वृद्धजनों के साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता है यह ठीक नहीं - वृद्धाश्रम पशुशाला नहीं है । वहां रहने वाले सब वृद्धों के जीवन का साम्य है उनका बुढ़ापा । उसमें भी अधिकतर वृद्ध तिरस्कृत, त्यक्त, अभावग्रस्त, और हृदयहीन क्रूरताओं के शिकार होते हैं । उनका चित्त शिकायतों से भरा होता है । उनके मन को शांति मिले और वे विधायक विचारों की ओर उन्मुख हों इसके लिए काफी प्रयत्न करना होगा ।

आजकल के कई वृद्धाश्रमों के व्यवस्थापक बूढ़े लोगों को अपने आश्रित मान लेते हैं । वहां बूढों की बड़ी दुर्दशा होती है । वृद्धाश्रम में आने वाले वृद्धजनों की परिस्थितियां मोटे तौर पर इस प्रकार होती हैं -

(१) बुढ़ापे में कोई संभालने वाला न हो ।

(२) बेटे-बेटी परदेश बसे हों ।

(३) स्वाभाव के कारण परिवार में मेल न होने से परस्पर मानसिक क्लेश हो ।

(४) स्वार्थवश रिश्तेदार जिम्मेदारी न लेना चाहते हों ।

इन अनेक कारणों से वृद्धों को वृद्धाश्रम का आश्रय लेना पड़ता है । साथ ही इस बात का भयंकर शूल हृदय में चुभता रहता है कि जिंदगी भर का घर इस बुढ़ापे में छूट गया । जीवन की सारी जिम्मेदारियां निबाहने के बाद अब आये थे आराम के दिन- किंतु जब घर ही न रहा तो आराम कहां ? चाहे किसी भी कारण से हो, खुद का खराब स्वभाव ही क्यों न आड़े आता हो किंतु बुढ़ापे में घर छूटने की पीड़ा भयंकर होती है । यों तो हर परिस्थिति के अनेक पहलू होते ही हैं ।

वृद्धाश्रम का सर्व समान तत्व अवस्था और समान उम्र है । बाकी वृत्तियाँ, स्वभाव, रुचि सब भिन्न होते हैं । परस्पर, विरोधी विचार वालों को यहां इकट्ठे रहना है। सात सुरों के सम्मिलन से संगीत पैदा होता है और उनके बिखराव से कर्कशता । समूह जीवन का माधुर्य प्रयत्न से ही प्राप्त हो सकता है ।

मातृ हृदय सेवक

'वृद्धाश्रम' की सबसे बड़ी आवश्यकता है उत्तम सेवकों की । आश्रम में सुविधाएं कुछ कम भी होंगीं तो चल जायेगा, किंतु सबकों पिरोने वाला सूत्र मजबूत चाहिए । जिन सेवकों का हृदय इन वृद्धों के लिए मातृवत् प्रेम से भरा हो वे ही उनकी सेवा कर सकेंगे । पचपन के बाद के बचपन को संभालना, सहन करना कठिन हो जाता है । 'बूढ़े बच्चों को संभालने के लिए तो मां से बढ़कर मां चाहिए ।

बूढ़ों के मानस-परिवर्तन के बिना वृद्धाश्रम सफल नहीं होंगे । बूढ़े यदि स्वयं को हर हालत में, सेवा लेने के अधिकारी मानेंगे तो काम नहीं चलेगा। वृद्धाश्रम का वातावरण ऐसा हो कि सब कोई यथाशक्ति काम करे, एक दूसरे की मदद करे और दूसरें का फायदा उठाने के बदले अपनी विशेषताओं का लाभ दूसरों को प्राप्त करायें । ऐसा वातावरण पैदा करने में सेवक का योगदान सबसे महत्वपूर्ण रहेगा ।

साधारणतः हम सोचते हैं कि रुपये मिल जायें, बड़े-बड़े मकान खड़े हो जायें तो संस्था बन जायेगी । किंतु संस्था कमरों में लगे पंखों से, टेबल कुर्सियों से या टी०वी०, फ्रीज, खेल के साधन, दवाएं आदि से ही नहीं बन जातीं । इस सारी व्यवस्था के वगैर भी नहीं बन सकती किंतु सबसे पहले जरूरत है सुयोग्य सेवक की जिसके हृदय में सेवा की सच्ची लगन हो । सिर्फ मैनेजमेंट के डिग्रीधारी व्यवस्थापक की बुद्धिशक्ति या उसकी ट्रेनिंग वृद्धाश्रम चलाने के लिए पर्याप्त नहीं है, जिसकी जीवन दृष्टि सही हो, जो दूसरे के मन को समझ सके, जिसका हृदय विशाल हो- करुणामय हो, वही

वृद्धजनों की सच्ची और सही सेवा कर सकेगा । सेवक के मन में वृद्धजनों के प्रति सच्चा आदर होना बहुत जरूरी है ।

महाभारत में, एक प्रसंग आता है- युद्ध शुरू हो गया । शुरू में पांडव सेना अधिक संख्या में आहत होती है, जिसके कारण युधिष्ठिर अर्जुन के गांडीव का उपहास करते हैं । फलतः अर्जुन गुस्से में बड़े भाई पर प्रहार करने के लिए उद्यत हो जाता है, तब भगवान कृष्ण अर्जुन को रोकते हुए कहते हैं- 'बचपन में तुमने कभी वृद्धजनों की सेवा नहीं की, इसीलिए तुम आज ऐसी उछंडता कर रहे हो ।' बुजुर्गों की सेवा के संस्कार तो बचपन से ही डालने चाहिए । संस्कारवान व्यक्ति ही सेवा को अपने जीवन का परम सौभाग्य मान सकेगा ।

साधारण व्यवस्था

प्रत्येक सदस्य के लिए यथा-संभव अलग छोटा-सा कमरा हो जहां उसे पूरी स्वतंत्रता का अनुभव हो सके । जो वृद्ध अकेले रहना पसंद न करें उनके लिए सामूहिक निवास हो । इसके अलावा सामूहिक रसोई घर, वाचनालय, प्रार्थनाभवन हों । कुछ बागवानी का मौका भी हो जिससे वृद्धजनों का धरती से, नये अंकुरों से संपर्क रहे । पुस्तकालय अत्यंत आवश्यक है, जहां पुस्तकों के अलावा अखबार, सामयिक पत्र-पत्रिकाएं पढ़ने के लिए उपलब्ध हों । छोटा-मोटा उद्योगखंड भी हो जहां लोग अपनी शक्ति और हुनर के मुताबिक काम कर सकें । क्योंकि बिना काम किये दिन बिताना और भी मुश्किल हो जाता है । प्रांगण में ऐसा देवालय या प्रार्थना भवन हो जहां सर्व-धर्म-उपासना संभव हो ।

दिन भर का एक निश्चित कार्यक्रम होना चाहिए । उसमें कुछ समय सामूहिक हो कुछ व्यक्तिगत । प्रार्थना, व्यायाम, बागवानी, नाश्ता-भोजन स्वाध्याय आदि नियत समय पर ही हो ऐसा आयोजन बहुत जरूरी है । खेल-कूद, कथा-प्रवचन स्वैच्छिक रहे क्योंकि इन कार्यक्रमों में यांत्रिकता

नहीं आनी चाहिए । ऐसे कार्यक्रम तो मनुष्य के तनमन को तरोताजा रखने के लिए होते हैं । जो जेसा परिश्रम कर सके, कठिन या हल्का, जरूर करे । श्रम की आवश्यकता 'सच्चे विश्राम' के लिए ही है । श्रम के कारण धरती से संबंध जुड़ा रहेगा, सृजन का आनंद मिलेगा, शरीर-स्वास्थय बना रहेगा और सच्चा विश्राम मिलेगा ।

इन सबके अलावा प्रत्येक व्यक्ति की अपनी जो खासियत हो, मौलिकता हों उसे भी प्रकट होने का पूरा अवकाश मिलना चाहिए । आसपास के बच्चों के लिए छोटा-मोटा बाल मंदिर बन जाये तो दादा-दादी बच्चों की खूब जमेगी । सप्ताह में एक दिन भजन-संगीत जैसे सांस्कृतिक आयोजन भी कर सकते हैं । खास प्रसंग पर प्रवचन, चर्चा इत्यादि हो । महापुरूषों का जन्म दिन, और दूसरे अनेक उत्सव भी मनाये जा सकते हैं । कभी-कभी अच्छी फिल्में भी दिखाई जा सकती हैं ।

महीने में एक बार हर व्यक्ति की डाक्टरी जांच होनी चाहिए । बीमारी में यथा सभंव प्राकृतिक चिकित्सा चले, आयुर्वेदिक दवाएं दें, बहुत आवश्यक हो तब एलोपैथी का सहारा लें । नियमित और परिमित आहार का क्रम संभालें तो गाड़ी ठीक चलती रहेगी ।

परम सखा मृत्यु का सुस्वागतम्

वृद्धाश्रम का एक निश्चित मेहमान है- मृत्यु ! सभी लोग अपने चौथेपन में होंगे, इसलिए इस मेहमान का आगमन तो होना ही है । इस परिस्थिति में सबका मन संभालना एक नाजुक काम है । किसी की मुत्यु पर वातावरण बोझिल हो ही जाता है । सबके मन में विचार उभरता होगा- 'ओह, अब किसकी बारी है ?' कई दिन मन उद्विग्न रहता होगा- विषाद से भरा रहता होगा ।

ऐसे विषाद से बचने का उपाय तो एक ही है कि मृत्यु के बारे में सही समझदारी रखें । मृत्यु तो जीवन की नित्य और निश्चित घटना है, उसका

सहज स्वीकार हो तो भय से, विषाद से बचा जा सकताा है । दिन के बाद रात और रात के बाद दिन इस नित्यक्रम का दुःख क्यों ? मन को आश्वासन देने के लिए, समझ बढ़ाने के लिए जन्म-मृत्यु, पूर्व जन्म, पुनर्जन्म, कर्म-विपाक, मृत्यु-पार का दर्शन, परम तत्व की अमरता आदि विषयों का कुछ अभ्यास कर सकते हैं, वार्तालाप-प्रवचन सुने जा सकते हैं । मन-बुद्धि में यदि मृत्यु की असलियत बस जायेगी तो मृत्यु अमंगल नहीं वरना 'परम सखा' बन जायेगी । रवींद्रनाथ ने सुंदर उदाहरण दिया है - 'मां जब अपने बालक को दूसरे स्तन से लगाने के लिए पहले स्तन से हटाती है तब दूध छूटने के दुख में बच्चा रोने लगताा है किंतु मां तो उसे अधिक आपूर्ण पात्र के पास ले जा रही है - ऐसी ही है मृत्यु । मुत्यु नवजीवन के द्वार खोलती है । इसलिए 'आश्रम' में अवसान का मंगल उत्सव मनाना चाहिए-दिवंगत के गुणों का 'श्रद्धापूर्वक' स्मरण करके 'श्राद्ध' की नयी प्रणाली आरंभ करनी चाहिए ।

समग्र वातावरण प्रभुमय हो

वृद्धाश्रम का संपूर्ण वातावरण प्रभुमय हो ; प्रभु के घर जाने की संध्या घिर आयी हैं, अब तो इस तन-मन को प्रभु चरणों में धर दें । इसलिए वृद्धाश्रम के वातावरण में आगंतुक का चित्त मंगल-भावना से भरा हो । जैसे मंदिर में प्रवेश करते ही हमारे मन में पवित्रता का, शुचिता का भाव अनायास भर जाता है वैसा ही वृद्धाश्रम का होना चाहिए । जहां प्रभु-प्राप्ति की उपासना चलती है, सब मिलकर प्रार्थना करते हों, इस धरती का कण-कण प्रभुमय हो जायेगा । यहां है जीवन-संध्या के दर्शन-जीवन के हरेक पल की एक गति है, एक स्थिति है । मनुष्य मात्र की अंतिम गति है- राम । अब तो 'बिनापाये राम, कहां मोहे विश्राम ।'

दिन-रात सतत रामनाम का रटन यही जीवन संध्या की प्रमुख घटना बनी रहे तभी वृद्धावस्था अमृतमय बनेगी । अन्य कोई कठिन साधना चाहे

संभव न हो - हृदय-मन-बुद्धि हरिभजन में, रामनाम में ओतप्रोत रहे, ऐसी साधना करनी है ।

इसलिए वेद भगवान ने आज्ञा दी है - उतिष्ठतः, जागृतः, प्राप्यवरान् निबोधत ।'

हम उठें,जागें, और सर्वोतमों ने हमे जो प्रवोधित किया, उसे प्राप्त करें ।

जन सेवा ही प्रभु सेवा

मनुष्य का मन इतना रहस्यमय है कि मनुष्य स्वयं उसे समझ नहीं पाता । जिस घड़ी की वर्षों प्रतीक्षा करता रहा, जब वह घड़ी सामने आयी तो खुश होने के पहले सकपका जाता है । हजारों बार कहते रहे कि निवृत्त हो जाऊं तो कितना अच्छा, निवृत होने पर यह करूंगा, वह करूंगा- लेकिन जब रिटायरमेंट का कागज हाथ में आता है तो हम उदास हो जाते हैं । स्तब्ध रह जाते हैं । क्यों होता है ऐसा । क्योंकि तब मन को बड़ा धक्का लगता है कि अरे, अब हम बेकार हो गये । निवृत्त और निकम्मेपन का फर्क नहीं समझ पाते हम । दोनों के फर्क को समझना, उनका सही अर्थ जानना बहुत जरूरी है ।

रि-टायर अर्थात् फिर से कमर कसना

पूर्व जीवन में मनुष्य जिंदगी भर अपनी रोजी-रोटी के लिए दिन रात मेहनत करता रहता है । काम और कमाने की धुन में जरा भी फुर्सत नहीं मिलती । चाभी वाले खिलोने की तरह वह नाचता रहता है - अपनी लीक से बंधा, रूटीन से जकड़ा हुआ ।

उत्तरावस्था में जब मनुष्य निवृत्त होता है, उसे कुछ फुर्सत मिलती है अपने लिए । इस आत्म परीक्षण के दौर में हमारे सामने दो क्षितिज दीखते हैं - एक समाज का क्षेत्र और दूसरा- प्रभु प्राप्ति का क्षेत्र । इन दोनों कामों में पूर्व जीवन से भी अधिक पुरूषार्थ की जरूरत है ।

इसलिए अब रिटायरमेंट में फिर से प्रवृत्त होना है - घोड़े को फिर से तैयार करना है । बदलती उम्र के साथ, बदलते कार्य-क्षेत्र के साथ, अपने चित्त को बदलना भी बहुत जरूरी है । अब तक हमारा मन, जो अनेक वृत्तियों का अखाड़ा बना हुआ था, उसे अब नि-वृत्त वृत्ति-रहित बनाना है । अपनी वृत्तियों से मुक्ति पाये बिना, वृत्ति-निरसन बिना जन सेवा कैसे होगी । अपनी उलझनों से छुटकारा पायेंगे तभी जन सेवा को प्रभु सेवा समझकर जीवन संध्या का उत्सव मना सकेंगे ।

वानप्रस्थाश्रम

अब तक हमने अच्छे गृहस्थ बनकर गृहस्थधर्म निभाया, अच्छी तरह काम करके अपने कर्तव्य निभाये । अब हमें सच्चे नागरिक के नाते नम्र समाज सेवक बनना है । गृहस्थाश्रम की भांति अब अपने वानप्रस्थाश्रम को सार्थक करना है । 'वानप्रस्थ' शब्द पुराना है लेकिन यह सिर्फ एक शब्द नहीं है वरन् पूरी विचारधारा हे । पुराने जमाने में पाठशाला, आश्रम वगैरह नगर से दूर वनों में होते थे अतः चौथेपन में मनुष्य अपनी चित्तशुद्धि के लिए, सेवामय जीवन बिताने के लिए वन-प्रस्थान करते थे । प्राचीन भारत में वनों का, 'अरण्य' का एक विशिष्ट स्थान था । ऋषियों ने जिन स्थलों में जीवन के मूलभूत सत्य समझाये हैं, उन ज्ञानग्रंथों को नाम दिया है वृहदारण्यक उपनिषद । हमारे सारे वेद-उपनिषदों का प्रादुर्भाव अरण्यों से हुआ है ।

एक बार चर्चा चल रही थी कि भारतीय संस्कृति को नगरी कहेंगे या ग्रामीण । तब रवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा- 'हमारी संस्कृति न तो ग्रामीण है, न नगरी, हमारी संस्कृति तो आरण्यक संस्कृति हैं ।' इसलिए वनप्रस्थान, वानप्रस्थ, अरण्यवास, वनवास आदि शब्दों का मूल भाव समझकर, उनका संकेत समझकर उन्हें आज के युग के अनुरूप नया अर्थ देना होगा, आज के जीवन में उस अर्थ को सार्थक करना होगा ।

भारतीय संस्कृति में मनुष्य जीवन को चार अवस्थाओं में बांटा है- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास । पहली अवस्था में ब्रह्मचर्य पूर्वक ज्ञान-प्राप्ति, गृहस्थ जीवन में- परिवार की जिम्मेदारी और आजीविका चलाते हुए समाजोपयोगी काम करने हैं । वानप्रस्थ जीवन में पारिवारिक जिम्मेदारी बच्चों को सोंपकर, गृह कार्यो से मुक्त होकर वनगमन यानी समाज सेवा करनी है । संन्यास आश्रम में जीवन के समस्त सांसारिक धर्मो को छोड़कर, जीवन के मूलभूत परमधर्म ईश्वर प्राप्ति के लिए ही पुरूषार्थ करना है ।

केंद्र स्थान - समाज

इस तरह मनुष्य को अपने जीवन की हर अवस्था के अनुरूप बदलना होता है । आज तक हमने अपनी सारी बुद्धि-शक्ति, कार्य-शक्ति का उपयोग परिवार सेवा के लिए किया । अब से इनका उपयोग समाज-सेवा के लिए होगा । आज तक जीवन का केन्द्र परिवार था अब 'समाज' होगा । आज तक जिस समाज की सहायता से हमने अपने परिवार को सुखी और समृद्ध बनाया अब उस समाज से उऋण होने का मौका आया है । हमारे माता-पिता, हमारे गुरू और विश्वविद्यालय, हमें काम-धंधा देने वाले विविध क्षेत्र सब इस समाज के अंग हैं । हमारे अस्तित्व को टिकाये रखने वाले हर कोर में अनगिनत लोगों की मेहनत का योगदान है । पैसे का ऋण पैसे से चुक सकता है लेकिन हमारी हर सांस का ऋण कैसे चुकेगा ? पेड़ में बाल्टी भर पानी डाल दने से फल के माधुर्य का ऋण तो नहीं चुक सकता । हम स्वयं वैसे ही माधुर्य के दाता और कारण बनें तो शायद कुछ उऋण हो सकें ।

जनवास ही वनवास

उपनिषद में एक श्लोक है-

'तपः श्रद्धे ये ह्युपवंसति अरण्ये'

अरण्य में तप, श्रद्धा और भक्ति की उपासना करनी है । आज का अरण्य लोगों के बीच है । अब वैसे वन तो रहे नहीं इसलिए लोगों के बीच रहकर वनवास करना है । समाज में हमेशा निःस्पृही, त्यागी और अनुभवी लोगों की जरूरत होती है । ऐसे लोग कहीं बाहर से तो आयेंगे नहीं । समाज से न्यूनतम लेकर, समाज को अधिकतम देने वाले निःस्वार्थ, निःस्पृह, निवृत्त वानप्रस्थी ही समाज की सच्ची सेवा कर सकेंगे । लोगों के बीच रहकर लोगों की सेवा करते करते अपने काम-क्रोध-अहंकार से मुक्ति पानी है । सेवा के साथ तपस्या और भक्ति की साधना करनी है - यही वर्तमान युग का अरण्यवास है । सेवाकार्य में अहंकार जितना विगलित होगा उतनी ही सेवा की दिशा सही होगी । सेवा कार्य के बढ़ने के साथ यदि अहंकार भी बढ़ता जाये तो वैसी सेवा कुसेवा होगी । अहंकार रहित सेवा से ही भक्ति के मार्ग खुल सकते हैं । सेवा भी हो- अहंकार मुक्ति भी हो यही सच्ची निवृत्ति है । विनोबाजी कहते थे, सेवा में अहंकार का भाग लगता है ।

सेवा १००-:२० अहंकार= सेवा बची सेवा ५० - :५ अहंकार= सेवा

बची १०

धर्माचरण ही वृद्ध धर्म

जीवन के अंतिम समय को सार्थक करने के लिए जरूरी है कि हम राग-द्वेष बढ़ाने वाले कामों में न उलझें । चित्त को भ्रष्ट करने वाली राजनीति से दूर रहें । जन सेवा की हमारी भूमिका निर्वैर, निष्पक्ष और निर्भयता की हो । जैसा कि इस श्लोक का जिक्र हम पहले भी कर चुके हैं-

न सा सभा, यत्र न सन्ति वृद्धाः

वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।

धर्मो न वे यत्र च नास्ति सत्यम्

सत्यम् तेद्यच्छलेनातुविद्धम ।।

जहां वृद्ध नहीं वहा सभा नहीं । जो वृद्ध धर्म की बात न कहे वह वृद्ध नहीं । जो सत्य नहीं वह धर्म नहीं । सत्य वही है जो छल-कपट से भरा नहीं । कितनी बड़ी जिम्मेदारी डाली गयी है वृद्धों पर । द्रौपदी चीर हरण के वक्त भरी सभा में भीष्म-द्रोण जैसे बुजुर्गों को पुकार रही थी, न्याय मांग रही थी, लेकिन वे सब मौन रहे । उनका वृद्ध धर्म तब खंडित हुआ । मात्र स्वयं धर्म का आचरण करना पर्याप्त नहीं है, अधर्म को रोकना भी वृद्धों का कर्त्तव्य है ।

जो धर्म का मार्गदर्शक है वह स्वयं तटस्थ, निष्पक्ष नहीं होगा तो सत्य कैसे कह सकेगा । और जो सत्य नहीं वह धर्म नहीं- और छल कपट से विद्ध है वह भी धर्म नहीं । सत्य निश्छल है, निष्कपट है, निरावरण है, निभ्रांत है । ऐसे सत्य की उपासना के लिए स्वयं धर्मपालन करना होगा, तटस्थता रखकर सच्चे धर्म के दर्शन करवाने होंगे । राष्ट्र धर्म, युग धर्म, परमधर्म का सक्रिय पालन करने वाला ही समाज को सही राह पर ले जा सकेगा ।

सेवा करके हमें किसी को पंगु नहीं बनाना है, दान देकर किसी को दीन नहीं बनाना है । अंत में हमारी तो एक ही चाह है कि मनुष्यमात्र को मोक्ष प्राप्ति हो । सबको मुक्ति मिले । मुक्ति अर्थात् राग-द्वेषादि द्वंदों से मुक्ति और परमशांति की प्राप्ति । इस सामूहिक मुक्ति के लिए प्रयास करना यही हमारा सेवामार्ग है ।

सेवाधर्म अति गहन

समाज सेवा करने से पहले उसका सही अर्थ समझना बहुत जरूरी है । घर को संभालने वाली गृहिणी के बिना घर के सब लोग अनाथ से

हो जाते हैं वही हालत आज समाज की है । समाज को सच्चे अर्थों में संभालने वाला कोई नहीं । यों तो सब ओर सच्चे समाज सेवकों के ठठ जमे हैं किंतु सच्ची समाज सेवा कहीं नहीं होती । आज समाज सेवा संपत्ति, प्रतिष्ठा और यश प्राप्ति का साधन बन गयी है । और कई जगह समाज सेवा के फायदे उठाकर लोग स्वयं निष्क्रिय बन जाते हैं । यह ठीक नहीं है । सामाजिक मदद तो लोगों को स्वावलम्बी बनाने के लिए होनी चाहिए उन्हें आलसी बनाने के लिए नहीं । सेवाधर्म अत्यंत गहन हैं, योगियों के लिए भी अचिंत्य है ऐसा गीता में कहा है । इसलिए सेवा के नाम पर हमारे हाथों कुसेवा न हो इसका ध्यान रखना होगा ।

कई तरह के सामाजिक कार्य किये जा सकते हैं । हर व्यक्ति अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार कार्य चुने । विनोबाजी ने कहा था कि'समाज में मुखिया, दुखिया और सुखिया- ऐसे तीन प्रकार के लोग हैं और तीनों को सेवा की जरूरत है । हम अपनी विवेक बुद्धि से काम लें और उसके अनुसार काम करें । 'समाज नारायण' की उपासना हमें परमनारायण तक ले जायेगी । नारायण कहीं दूर आकाश में या पाताल में नहीं रहता । हमारे आसपास चारों तरफ जो हैं सब नारायण के स्वरूप हैं । विवेकानंद ने जरूरतमंद को दरिद्रनारायण कहा था- हमें उनकी सेवा करनी है । हमारे चारों और गरीबी, विषमता, व्याधि और अज्ञान फैला पड़ा है । इसलिए हमारे पास संपत्ति, ज्ञान, श्रम जो कुछ भी हो उसका लाभ समाज को मिलना चाहिए । समाज में जो सबसे पीछे हैं, दलित-पीड़ित हैं, दुखी और पेरशान हैं, उनके पास पहले पहुंचना है । वृद्धावस्था के कारण हम अधिक दूर तक न जा सकें लेकिन अप्रने मोहल्ले में कई काम कर सकते हैं । बच्चों में प्रार्थना, स्वच्छता के संस्कार डाल सकते हैं । उन्हें बोधप्रद कहानियाँ सुना सकते है । इससे बच्चों का उत्साह और ज्ञान बढ़ेगा । हर रोज कम से कम एक घंटा अपने विशिष्ट ज्ञान का उपयोग समाज के लिए कर सकते हैं । डाक्टर, वकील, शिक्षक सबके ज्ञान का उपयोग सबके लिए हो सकता है ।

यह जरूरी नहीं है कि हमारे पास कोई विशेष हुनर या प्रोफेशन हो तभी हमारा उपयोग है । इस उम्र में हमारे पास अनुभवों का भंडार होता है । हम लोगों की मानसिक उलझनों को सुलझाने में मददकर सकते हैं । या दूसरे कुछ लोग जो अच्छा सेवा कार्य कर रहे हों उनकी हम मदद कर सकते हैं ।

आजकल अनेक जगह नेत्र यज्ञ इत्यादि होते हैं, हम उनमें कुछ समय दे सकते हैं- बीमर के लिए तो दो मीठे बोल दवा से अधिक कारगर होते हैं । अपने गांव या नगर में जो गरीबों की, हरिजनों की बस्तियां हैं वहां कितने सेवाकार्य पड़े हैं । सरकार के भरोसे हर काम छोड़कर चलेगा नहीं - हर इंसान स्वयं कुछ न कुछ करेगा तभी हमारे समाज का विकास हो सकता है ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते

जीवन के अनेकविध कार्मों के साथ-साथ हमें प्रभु के साथ अनुसंधान जोड़े रखना है । आखिर करने वाला तो परमेश्वर है यह बात मन में दृढ़ होगी तभी हमारा चित्त तटस्थ और अक्षुब्ध रह सकेगा । कार्य की सफलता-असफलता के साथ हमारा मन डोलता रहेगा तो हम काम ठीक से नहीं कर सकेंगे । हम सब जानते हैं कि गांधीजी जीवन के अंतिम क्षण तक मानव-सेवा में लगे रहे तथापि उन्होंने एक बार विनोबाजी से कहा था - 'देखो, विनोबा, हमें भारत के सात लाख गांवों में पहुंचना है यह सही है, लेकिन यह बात भी हमें समझ लेनी चाहिए कि आखिर इन सभी प्रवृत्तियों का परिणाम शून्य ही है ।' लेकिन बापू ने यह कभी नहीं कहा कि परिणाम शून्य है इसलिए जन सेवा करनी ही नहीं चाहिए । गुरूमंत्र एक ही है कि अलिप्त भाव से अपना कर्तव्य करते रहें- सफलता-विफलता, सुख-दुख से ऊपर उठकर अपने मन को शांत रखें । हम काम की फिक्र करें ईश्वर परिणाम देखेगा । हम ऐसी वृत्ति रखेंगे तभी हमारा अहंकार छूटेगा और मनः प्रसाद की प्राप्ति होगी ।

वानप्रस्थाश्रम की निवृत्ति हमें धीरे-धीरे संन्यस्त भूमिका की ओर ले जायेगी । यों तो संन्यास कोई स्थूल भूमिका नहीं है, यह परिणाम है । भगवे वस्त्र धारण करने से कोई संन्यासी नहीं हो जाता । क्योंकि संन्यास बाह्य अवस्था नहीं बल्कि वह तो भीतरी वृत्ति है - निरपेक्ष वृत्ति, निरहंकार की वृत्ति- संपूर्ण, वैराग्य संन्यास अर्थात् वृत्ति-शून्यता । मनुष्य की दृष्टि अपने भीतर आत्म तत्व में इस तरह सुस्थित हो जाती है कि मनुष्य स्वयं इच्छा-रहित हो जाता है । वासनामुक्ति, प्रखर वैराग्य, तृष्णाक्षय ये सब संन्यस्त भूमिका के प्रमुख लक्षण हैं । जब किसी प्रकार की इच्छा ही नहीं रहेगी, सुख-दुःख, राग-द्वेष जैसे द्वंदों का सवाल नहीं रहेगा । जीवन की पूर्व अवस्थाओं में हमने सत्कर्मों द्वारा चित्त की मलिमता मिटाने का सतत् प्रयत्न किया है । सत्कर्मों द्वारा जीवन में भक्तितत्व की वृद्धि होती है, फिर भक्ति द्वारा संपूर्ण जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित करना है । गीता में कहा है - 'आत्मवत् सर्व भूतेषु - 'प्राणीमात्र के साथ आंतरिक एकता का अनुभव करना ही है अंतिम प्राप्ति ।

अपने भीतर जब ऐसा विश्वभाव जागृत होता है, तब यह जीवन अपनी देह के छोटे से दायरे में सीमित नहीं रह सकता । जब यह देह कारागार सी भासित होने लगे वही है मुक्ति की अंतिम घड़ी । जैसे पका फल अपने आप डाली से गिर पड़ता हे वैसी ही होती है यह देह-मुक्ति । प्रभु के बुलावे के वगैर साजन के घर कैसे जा सकेंगे ।

अंतिम अवस्था में हमारा हृदय सबके लिए मंगल कामना करे । चित्त सर्व कल्याण की भावना से सराबोर हो । किसी के लिए भी कटु या न्यून भाव न हो । सांस सांस में हर क्षण एक ही प्रार्थना गूंजती रहे - 'सबका कल्याण हो ।' अब जीवन कार्य निश्शेष हुआ - कुछ पाना बाकी नहीं रहा अब तो 'राम रिझाऊं' मेरी काशी, मेरी गंगा, मेरी पूजा सब राममय हो- 'अब सडसठ तीरथ घट के भीतर' हैं - अब प्रभुचरणों में पहुंचना है

बाकी कुछ नहीं, सब शून्य । .... भीतर बाहर एक ही मंगलभाव -

शुभ मंगल हो, शुभ मंगल हो

शुभ मंगल मंगल हो

नभ मंगल, धरती मंगल हो

धरती का कण कण मंगल हो । । (१)

गति मंगल हो, स्थिति मंगल हो

जीवन का क्षण क्षण मंगल हो । । (२)

मति मंगल हो, प्रीति मंगल हो,

मानव की हर कृति मंगल हो । । (३)

कुछ प्रतिभाव पाठकों के

गौरवशाली वृद्धावस्था कैसे जीयें - यह है इस पुस्तक का मध्यवर्ती विचार । अत्यंत स्पष्ट, प्रवाही तथा ज्ञानपूर्ण ढंग से लेखिका ने उपर्युक्त जिन्दगी के मर्म को यहां प्रस्तुत किया है । भूले-भटके अनेक लोगों को जिंदगी की ओर देखने का एक नया आशापूर्ण अमिमत देकर यह पुस्तक दीप-स्तंभ का काम करेगी ।

- पी० एस० मुरडिया

उदयपुर रोटरी क्लब के जिला गवर्नर

आपकी 'जीवन संध्या का स्वागत' यहां के लोगों को खूब पंसद आया । यहां की रोटरी क्लब उसे छापना चाहती है । आप अनुमति देंगी तो अपार कृपा होगी ।

- कृष्णाकुमारी (मुजफ्फरनगर)

आपके लेखन में भाषा और अर्थ का एक ऐसा मधुर सामंजस्य है कि वाणी सीधा अंतर में उतर जाती है । इसी कारण युवकों से वृद्धों तक सबको यह पंसद आ जाती है । आपके लेखन ने बहुत बड़ी सेवा की है ।

- जयंत मेहता (बम्बई)

'गुजराती साहित्य परिषद' ने आपकी इस कृति को पुरस्कार के लिए पंसद किया है इसके लिए हमारे हार्दिक अभिवादन स्वीकार करें । उत्तरोत्तर इससे भी अधिक सुंदर कृतियों द्वारा आप विशाल पाठक वर्ग का स्नेह प्राप्त करती रहें ऐसी शुभेच्छाएं ।

- दुष्यंत वसावडा (गांधी नगर)

बहुत ही सुन्दर विचारधारा है । हरेक इसे समझे और स्वजीवन में उतारें तो सच्ची मोक्ष प्राप्ति ही हो जाय ।

- राजेन्द्र त्रिवेदी

आपकी पुस्तक साद्यांत पढ़ गया और अत्यंत प्रसन्न हुआ । ऐसा प्रसाद देती रहें, यही मेरी शुभेच्छाएं ।

- सुंदरजी, बेटाई (साहित्यकार)

मेरे अनेक प्रश्नों के जवाब इस किताब में मिल गये । वृद्धजनों की प्रवृत्ति के लिए फूल की पंखुरी सी दो हजार की रकम भेज रहा हूँ, स्वीकार करें ।

- दुर्लभ काकडिया (कनेडा)